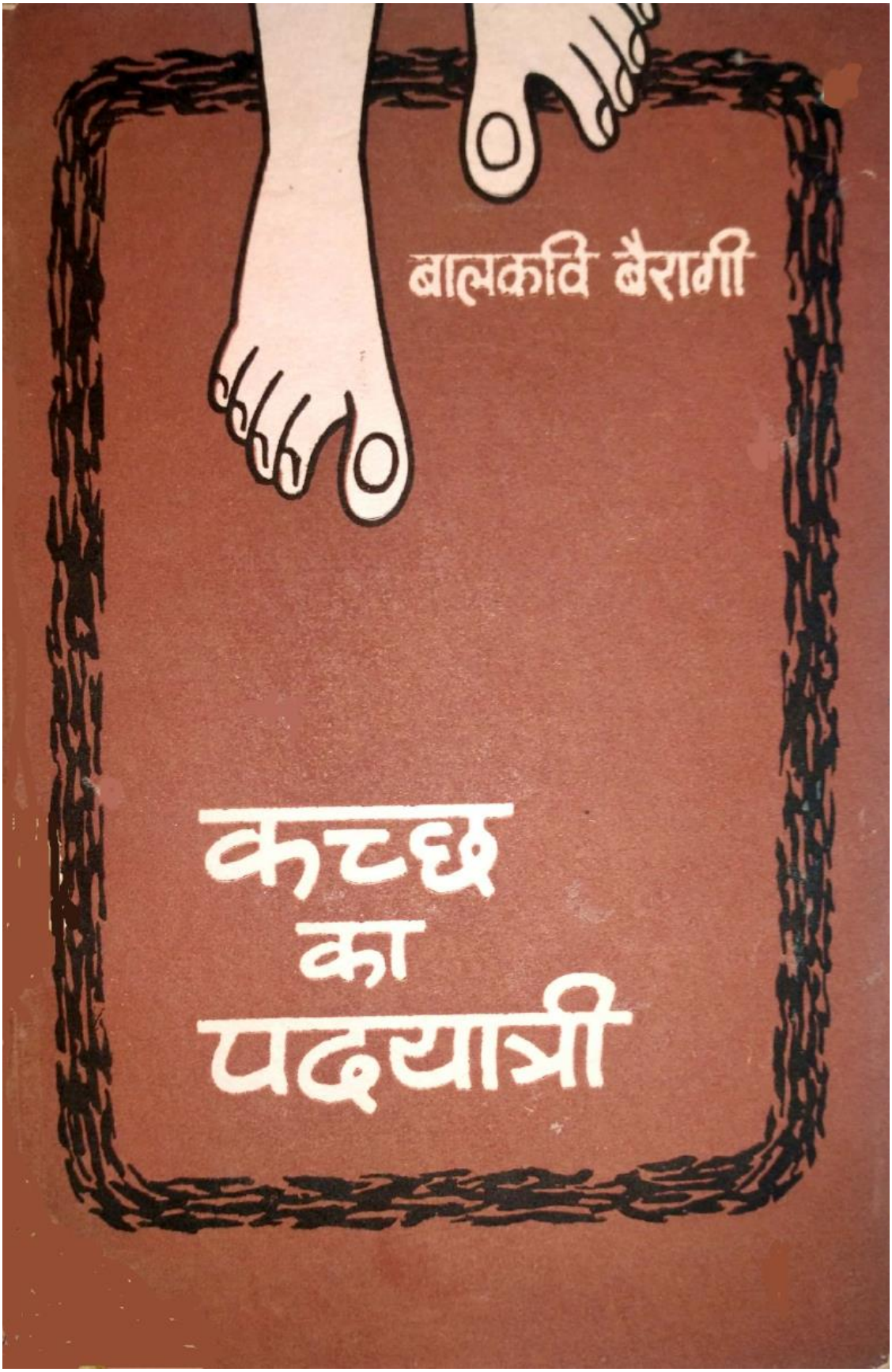
बालकवि बैरागी
कच्छ
का
पदयात्री

दादा गोविन्द राव नाडकर्णी

बालकवि बैरागी

कच्छ का पदयात्री

यात्रा संस्मरण

बालकवि बैरागी

समर्पण

रोमांच
की प्यास लिये
भटकती हुई
किशोर पीढ़ी को
(जो वास्तव में
संघर्षों के कच्छ के रन
में रास्ता ढूँढ़ रही है)
शुभकामनाओं सहित
समर्पित।

अनुक्रमणिका

1 - बैठे-बिठाए मिल गई यह गाथा

2 - घर में मिली उपेक्षा और प्रताड़ना के अँधेरे में उजाले की किरण

3 - पहले पड़ाव की पिटाई, पहली कमाई और गेरुआ धारण करते ही पिटाई

4 - संगाती ने धोखा दिया, घर वापसी से बाल-बाल बचे

5 - साथी मिला भी तो अन्धा, पहुँचे कराची, हिंगलाज यात्रा शुरु

6 - गाँजे की चिलम स्वीकार याने चार गम्भीर पाप क्षमा

7 - 'शरण भाई' की अनूठी परम्परा के जरिये आस्था की परीक्षा

8 - हिन्दू तीर्थ: मुसलमान पुजारिन! प्राणान्तक पीड़ादायी गर्भ परिक्रमा और अजानी प्रौढ़ता की अनुभूति

9- अहिन्दू देश में पौराणिक स्थान, अनिच्छुक वापसी ने करवा दी कच्छ की पद-यात्रा

10 - न रन की भयावहता का पता न संकटों का अनुमान, माता का जैकारा लगा, शुरु कर दी पद-यात्रा, जाना पानी का मोल

11 - जूतों की तलाश, मांस के लोथड़े निकल आए, टखनों तक सूजन, घुटनों तक जलन, चुड़ैलें बनतीं सूरज की किरणें

परिशिष्ट - इस कथा-नायक के बारे में कुछ जान लीजिए

मेरी बात

एक उम्र होती है जिसमें आदमी प्रताड़ित होता है, घबराता है, टूटता है, पलायन करता है पर उसकी जीवट उसे निराशा से बार-बार बाहर खींचती है। तब वह कुछ न कुछ कर बैठता है। अज्ञात दिशाओं में अपनी यात्राएँ शुरु करके भी कोई दिशा ले बैठता है। इस पुस्तक के नायक ने ऐसा ही कुछ किया है। जो भी पढ़ेगा, उसे ऐसा लगेगा कि जीवन में कभी न कभी उसे भी इस तरह के 'कच्छ' में भटकना पड़ा है। अनिश्चित यात्रा का समापन जब जय-यात्रा में होता है तब जिन्दगी निखर आती है। अस्तु,

यह पृष्ठ लिखते समय तक दादा हमारे बीच में स्वस्थ-प्रसन्न हैं। ईश्ववर उन्हें दीर्घायु दे।

--बालकवि बैरागी

---

1 - बैठे-बिठाए मिल गई यह गाथा

'दादा' के साथ आप दस बरस रह लीजियेगा, वे आप पर छाप नहीं छोड़ते। मेरा-उनका परिचय कोई बीस वर्ष से है पर मैं भी उनसे प्रभावित नहीं हुआ। हम उनके निकट के लोग उनको दादा कहते हैं। 'दादा' के अर्थ अलग-अलग अंचलों में अलग-अलग होते हैं। बम्बई की भाषा में दादा का मतलब गुण्डे और असामाजिक व्यक्ति से लिया जाता है, पर हमारे मालवा में बड़े भाई को 'दादा' कहा जाता है। हमारे यहाँ यह सम्बोधन आदर का सूचक है। शायद मराठी में भी 'दादा' का अर्थ आदरसूचक ही होगा। उनके परिवार में उनके बच्चे भी उनको 'दादा' ही कहते हैं। परिजनों के सिवाय जान-पहचान वाले उनको **'नाडकर्णी साहब'** कहते हैं पर वे इस सम्बोधन को उदासीनता से लेते हैं। **नाम उनका है गोविन्द राव नाडकर्णी पर मैं उन्हें दादा ही लिखूँगा।**

अप्रैल और मई 1968 हमारे देश की राजनीति में कच्छ के नाम पर महत्वपूर्ण माने जायेंगे । भारत की कई राजनैतिक पार्टियों ने कच्छ की धरती के लिए सत्याग्रह और अन्य तरह के आन्दोलन किये। उन्हीं दिनों एक शादी समारोह में दादा और हम इकट्ठे मिल गये। सदा की तरह मैंने दादा की इस स्थिति को भी साधारण ही लिया और हम लोग चाय पीते- पिलाते गपशप करते रहे। तभी दैनिक अखबार आ गए और जिसके हाथ में जो अखबार लगा, वह उसी में खो गया। संसद में उस दिन शायद कच्छ के सत्याग्रहियों के साथ सरकार के व्यवहार पर गरमा-गरमी हुई थी और महत्वपूर्ण समाचार यह था कि सरकार इन सत्याग्रहियों को कच्छ के रन में दो-चार मील भीतर प्रवेश करने के बाद पकड़ती है। बाज सत्याग्रही तो सात-सात मील पैदल भी चले हैं और वहाँ की जानलेवा लू और गर्मी ने कई को बेहोश तक कर दिया था। मैंने देखा कि समाचार पढ़ते-पढ़ते दादा एकाएक गम्भीर हो गये और फिर एक मुसकराहट उनके भद्दे होंठों पर फैलकर लुप्त हो गयी। मैं मनोविज्ञान का विद्यार्थी। उनकी इस मुद्रा को देखते ही समझ गया कि दादा कहीं कुछ कहना चाहते हैं। मैंने साधारण-सा सवाल किया कि इस समाचार पर मुसकराने का उनका मतलब क्या है। शायद दादा उस दिन कुछ जल्दी में थे, कुछ टालते-से लगे। मैंने नरम नस पकड़ ली। चाय का एक प्याला और उनके लिए मँगवाकर समय लिया। कहने लगे, 'कच्छ के बारे में जब समाचार पढ़ता हूँ तो मुझे रोमांच हो आता है। लगता है मेरे घर का कोई समाचार देख रहा हूँ।' मुझे थोड़ा सा अचरज हुआ। पूछा, 'दादा, आपका कच्छ से क्या रिश्ता है?' दादा सहज गम्भीर हुए और कहने लगे, 'भैया, मैंने कच्छ को चौड़ाई में 36 मील पैदल पार किया है। आज जब वहाँ पद-यात्रियों

का दल जाकर हताश होता है तो मुझे हँसी आती है। कुल 17 वर्ष की उम्र में मैंने जिस जीवट और उमंग के साथ कच्छ के रन की छाती पर अपने युवा पैरों की छाप छोड़ी है उनको देखने का मन इन समाचारपत्रों ने फिर से जगा दिया है।'

मैं और मेरे आसपास बैठे सभी लोग सन्नाटे में आ गये। कहाँ तो अखबारों में कच्छ रन की भीषणता और भयानकता का वर्णन, कहाँ संसद में हंगामे और कहाँ दादा का सहज कथन - 'कच्छ का रन मैंने पैदल पार किया है'। यह उन्होंने इतनी आसानी से कहा जैसे आपका कोई बालक कुल्फी खाने की बात कहता हो। हम सबकी दिलचस्पी दादा में खासी हो गयी और में प्रश्न करने उद्यत हो गया। दादा ने मेरी उत्सुकता को समझा और वे भी उत्तरों के लिए तैयार हो गये। अखबारी भाषा में इसे इण्टरव्यू कहते हैं, यह दादा को आज तक पता नहीं।

आप दादा को देखें तो एक निरा साधारण देहाती अनुमान ही आप लगा पायेंगे। न उनके कपड़े सलीके के, न उनका पहनावा व्यवस्थित। इस समय वे मध्यप्रदेश सरकार के शिक्षा विभाग में सहायक शाला निरीक्षक हैं पर मुझे तो वे साधारण शिक्षक का आभास भी नहीं देते हैं। न वे कारकून लगे, न बाबू। अफसर तो वे सात जन्म भी नहीं लगेंगे। जिन्दगी जीने की उनकी रफ्तार इतनी विचित्र है कि उनका व्यक्तित्व कभी बन ही नहीं पायेगा। बात करेंगे तो अपने आप पर मजाक ज्यादा कर बैठेंगे। उनके विनोद की पात्र हमारी जीजी ज्यादा होती है। जीजी का मतलब है उनकी पत्नी से। अपने आप में इतना बड़ा मजाक है कि वे तो दादा और उनकी पत्नी जीजी। दादा का मतलब बड़ा भाई और जीजी का मतलब बड़ी बहन। दादा इस मजाक को भी ठाट से ठहाके के साथ कर लेते हैं। भगवान ने उनको सौन्दर्य या सुन्दरता नाम की चीज दी ही नहीं। न दादा खूबसूरत, न हमारी जीजी सलौनी। दादा के चेहरे पर भद्दे चेचक के दाग और घनी भौंहें, कड़े बालों की दाढ़ी और मूँछ सफाचट। कभी दो-चार दिन दाढ़ी नहीं बने तो दादा डरावने हो आ्यें। आज दादा 55 साल के हैं पर बदन उनका सख्त और गठा हुआ लगता है। उम्र उनसे पल-पल लड़ रही है पर दादा अ्पनी सहज भाषा में 'जा स्साली!' कहकर उम्र को बगली मार रहे लगते हैं। हाँ, दादा के जबड़े आपको हमेशा भिंचे और कसे दिखाई पड़ेंगे। यही एक निशानी है जिससे लग सकता है कि दादा जो भी संकल्प कर लेंगे, उसे पूरा पटक जायेंगे। बोली में प्रकृति ने उनको मिठास दी है। मर्द को मीठा बोल बड़ी मुश्किल से मिलता है। पर दादा के पास वह पूँजी है। विनोद और विनोद के साथ उनका मीठा स्वर तथा फक्कड़ों-सा बात करने का लहजा दादा के पास अखूट है। उनसे यदि आपने बोल उगलवा लिया तो फिर दादा आपको निहाल कर देंगे पर अगर उनका बोल नहीं फूटा तो फिर मुश्किल है। आश्चर्य इस बात का है कि अपनी जिन्दगी को साँस-साँस संघर्ष में डुबाने वाले दादा को भगवान ने चुप रहने की ताकत भी जबरदस्त दी है। अमूमन ऐसे आदमी वाचाल और खुद के भाँड हो जाते हैं, पर दादा जाने-अजाने इस शक्ति की साधना बराबर करते आ रहे हैं। दादा अपनी ओर से नहीं बोलते। वे शहद के छत्ते की तरह हैं। आप

हल्का-सा सूराख शहद के गर्भ में कर दीजियेगा, आपकी हँडिया टप-टप करके पूरी भर जायेगी। बात करते-करते वे यदि अपने सिपाहियाना बालों पर एक दो-बार हथेली फिरा लें तो समझ लो कि दादा मूड में हैं। तारीफ वे अपनी या परायी कभी पसन्द नहीं करते और जब वे अपने पहलवान कट बालों को हथेली से दबाकर शेप देने लगते हैं तो फिर मान लीजियेगा कि दादा घड़ी-अध-घड़ी सब कुछ सुनने-कहने को तैयार हैं। उनके कानों पर भी लम्बे-लम्बे बाल हैं और बात करते-करते वे कभी-कभार उन बालों को सुध भी ले ही लेते हैं। दादा का व्यक्तित्व बड़ा ही बेमजा और बेशेप है। पर जब मैंने अपने 8 वर्षीय पुत्र को दादा की तस्वीर बताकर पूछा कि यह आदमी उसे कैसा दिखाई देता है तो उस मासूम बालक ने जो उत्तर दिया उसने भी मेरी आँखें खोल दीं। उसने कहा कि यदि इनकी बुशर्ट हटा दी जाए तो यह आदमी उसको सन्त या सन्यासी महाराज जैसा लगेगा। यदि आप दादा को देखते तो मेरी तरह आप भी बच्चे की इस बात से सहमत होते। दादा ने अपनी यह महान् दुस्साहसी यात्रा एक साधु के वेश में ही की है। यह सहज बात है कि किशोरावस्था में गेरूआ पहन कर सैंकड़ों मील पैदल चलना और कच्छ जैसे प्राणलेवा रन को पदयात्री के रूपमें पार करना तथा फिर रिटायरमेण्ट के बाद सन्यासी बन कर शेष जिन्दगी गुजारने का अरमान सँजोनेवाले दादा के मानस में गेरूआ वस्त्र एक संस्कार की भाँति घर कर गया है। जिसने दादा को नहीं देखा वह भी उनको सन्यासी जैसा ही मानता है। दादा के बदसूरत और बर्नार्ड शा की तरह भद्दे चेहरे पर उम्र की रेखाएँ घनी और गहरी हैं। पर उनसे भी दादा का जीवट ही बोलता है।

जब मैंने उनसे पूछा कि कच्छ पैदल पार करने की नौबत उन पर क्यों आयी तो दादा को अपनी स्मृति को पीछे नहीं ले जाना पड़ा। एक मुस्तैद और सजग-सतर्क विद्यार्थी को तरह वे सिलसिलेवार शुरु हो गये।

2 - घर में मिली उपेक्षा और प्रताड़ना के अँधेरे में उजाले की किरण

दादा कहने लगे - 'जन्म मेरा सन् 1913 या 1915 में से कभी भी एक दिन हुआ है। नौकरी के कागजों में सन् 1915 चला आ रहा है पर लगता है कि मैं सन् 1913 की पैदाइश हूँ। मन्दसौर जिले में जावद तहसील का एक छोटा-सा गाँव है जिसका नाम नयागाँव है, वहाँ मेरा जन्म हुआ। आज यह गाँव जावद रोड स्टेशन से लगा हुआ है। जावद रोड नाम होने से पहले इस स्टेशन का नाम केसरपुरा था और यह इलाका भूतपूर्व ग्वालियर रियासत में था। मेरे पिता वहाँ के मूल निवासी थे और ग्वालियर सरकार के पटवारी थे। मैं पटवारी का बेटा था। अपने पिता की मैं चौथी सन्तान था। मुझसे बड़े दो भाई और एक बहन और थी। अपनी

इस यात्रा के लिए जब मैंने घर छोड़ा तो वह सन् 1930 की कार्तिक पूर्णिमा थी। सर्दियाँ शुरु हुई ही थीं कि मैंने घर छोड़ा।'

दादा से मैंने घर छोड़ने का कारण पूछा। वे जरा से मद्‌धे पड़ गये। उन्होंने बताया - 'मेरे पिता तब के पटवारी थे और मुझसे बड़े तीनों भाई-बहनों की पढ़ाई-लिखाई, रहन-सहन आदि की व्यवस्था शहरी व्यवस्था थी। मुझे चौथी सन्तान के तौर पर नयागाँव में अपनी माँ के साथ रहना पड़ता था और मेरा मुख्य काम था अपने परिवार के ढोर चराना तथा पटवारी पिता की खेती-बाड़ी देखना। खेती में मेरा मन लगता नहीं था और खेती सारी पड़त होती जा रही थी। पिता जब नयागाँव में पटवारी थे तब किसानों पर उन्होंने जो-जो जुल्म और ज्यादतियाँ की थीं उनका बैर गाँववाले मुझसे और मेरे द्‌वारा रक्षित खेती का नुकसान करके निकालते थे। परिणाम यह होता था कि मैं न तो पढ़ पाता था और न बराबर खेती ही कर पाता था। उम्र भी तब मेरी क्या थी? खेती के लिए भी एक विशेष उम्र चाहिए। वह उम्र मैं कहाँ से लाता? पटवारी का बेटा था सो मेरा अहम् मुझे गाँववालों से अलग रखता ही था और पढ़ाई-लिखाई में उपेक्षित रहा सो अपने भाई-बहनों से मैं बराबर ईर्ष्या करता था। इस वातावरण ने मुझे बुरी तरह कुण्ठित कर दिया और मैं गाँव में 'शिकायतों का सूरमा' बन गया। आज इसको पीटा तो कल उससे पिटा। बाहर रहता तो गाँव के लोग पीटते और घर में जाता तो माँ रणचण्डी बनकर मारने दौड़ती। मेरी शिकायतें उज्जैन जातीं और वहाँ से बड़े भाई या पिता जब भी आते तो शिकायतों का अम्बार उनके सामने लगा दिया जाता था। नतीजा यह हुआ कि पिट-पिटकर मैं बागी हो गया। मैंने तय कर लिया था कि मैं घर छोड़ जाऊँ। पर जाऊँ कैसे? ऐसे अँधेरे में एक किरन ने मुझमें उजाला भर दिया। नयागाँव में रामदेवजी का एक चबूतरा है। रामदेवजी देहातों में रामा पीर के नाम से पूजे जाते हैं और राजस्थान का यह महापुरुष पिछड़ों का व्यापक उपास्य है। राजस्थान के रूनीजा नामक स्थान पर रामदेवजी का मूल तीर्थ है और रूनीजा की ओर जनेवाले और वहाँ से आनेवाले यात्रीगण एकाध रात नयागाँव में हमारे रामदेवजी के चबूतरे पर जरूर गुजारते थे। यह चबूतरा और वहाँ आनेवाली भजन मण्डलियाँ मेरे लिये परिवार बन गई थीं। मेरा अधिकांश समय इनमें गुजरा करता था। यहाँ तक कि मैं पटवारी का बेटा होने के बावजूद इन टोलियों के लिए अपने ही गाँव में से घर-घर से रोटियाँ माँगकर लाता था और वहाँ पड़े रहने वाले कोढ़ी-कंगलों और यात्रियों को ये रोटियाँ बाँटा करता था। इसकी भी भरपूर सजा मुझे माँ की ओर से मिलती थी। माँ मुझे 'मँगता-मँगता' कहकर खूब मारती थी। माँ के सामने उसकी कुल-

मर्यादा और मेरे पिता की पद-गरिमा का प्रश्न था और मेरे सामने रामदेवजी की, गीत गाती श्रद्धालु टोलियाँ और चबूतरे पर पड़े कोढ़ी-कंगले थे। रामदेवजी के गीतों में जगह-जगह हिंगलाज माता का वर्णन आता था और यात्रीगण भी वहाँ की यात्रा के लिए प्रेरक बातें किया करते थे। मैंने मन ही मन यह संकल्प किया कि चाहे जो भी हो, मैं भी हिंगलाज माता के दर्शन करूँगा। इधर तो यह संकल्प और उधर माँ की मारपीट, पिता की प्रताड़ना, भाई का भयानक व्यवहार! मेरा मानस सब तरह से बागी हो चला था। इस संकल्प ने मुझे एक सात्विक प्रेरणा दी और मैंने हिंगलाज माता का नाम लेकर नयागाँव छोड़ने का निर्णय ले लिया। यह निर्णय लेते समय मैं केवल दूसरी कक्षा तक पढ़ा-लिखा था। यह परीक्षा भी मैं सन् 1922 तक दे चुका था और बाद का सारा समय खेती तथा मजदूरी में ही बीत रहा था। मैंने जैसा आपको बताया यह फैसला करते समय मेरी उम्र बहुत कच्ची थी और सन् 1930 की ही पूर्णिमा का दिन था।'

मैंने सवाल किया--'दादा, आप अकेले चले या आपके साथ और भी कोई था? कृपया यह भी बताइयेगा कि यह हिंगलाज माता कहाँ है?'

'हिंगलाज माता नाथ पंथियों और गुसाइयों का महत्वपूर्ण धार्मिक और अध्यात्मिक तीर्थ है। राजस्थानी, मालवी और गुजराती गीतों में इस स्थान का वर्णन जगह-जगह आता है। इकतारों और तम्बूरों पर जब ये गीत समवेत स्वरों में गाये जाते हैं तो मैं आज भी बौरा जाता हूँ। बलूचिस्तान और ईरान की सीमा पर हिंगलाज माता का पवित्र मन्दिर आज भी बना हुआ है और यह तीर्थ आज पाकिस्तान में है। हिंगलाज माता की यात्रा रामदेव के अनुयायियों के लिए नितान्त रूप से अनिवार्य मानी जाती है। पता नहीं, आजकल नागपंथी और गुसाई लोग इस तीर्थ की यात्रा कैसे करते हैं और पाकिस्तान स्थित उस मन्दिर की हालत कैसी है। पर मैं जब यह लौ अपने मन में लगाए हुए था तब हिंगलाज माता लाख-लाख लोगों की इष्ट देवी मानी जाती थी और यात्री रास्ते भर गीत गाते-गाते अपनी टोलियाँ लिए हुए इस महातीर्थ की यात्रा पर निकलते थे।

'घर छोड़ने और हिंगलाजा माता की यात्रा के सपने को साकार करने को में मेरा एक साथी और मुझे मिल गया। मेरे ही गाँव का माँगीलाल खटीक नामक साथी मेरे साथ घर से हवा हो

गया। माँगीलाल खटीक जाति का हरिजन है मेरी ही तरह उस समय अपढ़ था। इस समय मैं आपके सामने बी. ए. सी. टी. पास बैठा हूँ। आठ सदस्यों का मेरा परिवार है। सभी लड़के-बच्चे और पुत्र-पुत्रियाँ-बहुएँ आदि सुसंस्कृत और पढ़े-लिखे हैं। कुछ तो नौकरियों में भी लग गए हैं पर माँगीलाल तब भी अपढ़ था और आज भी अपढ़ है। यात्रा में इसने जो कुछ किया, भुगता, वह तो बाद में बताऊँगा इतना अभी ही सुन लो कि वह कुछ दिनों पूर्व पुलिस में सिपाही था और अब नौकरी छोड़ कर बकरियाँ चराता है और मन्दसौर में ही रहता है। यदा-कदा मिल भी जाता है और चूँकि मेरा परिवार अब स्थायी रूप से मन्दसौर में ही रहता है तो आज भी हम मिलते हैं और उसी संगाती-भाव से मिलते हैं और मन-ही-मन सब समझ जाते हैं।

'घर से भागती बेला रात के साढ़े ग्यारह या बारह बजा होगा। हल्की-हल्की सर्दियाँ थीं और हमारे गाँव के पास के खेतों में ऊँची-ऊँची जुवारें खड़ी थीं। पूनम का चाँद पूरी जवानी पर था और कच्ची उम्र के हम दोनों भगोड़े कच्ची जुवार के खेतों में छिपते-छिपाते पक्का संकल्प लेकर पास के तीन-चार फर्लांग दूर स्टेशन की ओर बढ़ रहे थे। रास्ता हमने घर से ही छोड़ दिया था। माँगीलाल मुझसे उम्र में साल-दो साल बड़ा था और वही मेरा नेता था। यह यात्रा उसके संरक्षण में मुझे करनी थी। पैसे के नाम पर मेरी जेब में एक पाई भी नहीं थी। कुल चार-छः पैसे पास थे वे भी मैं घर हो छोड़ आया था। कपड़े कहने भर को थे। बदन पर एक बण्डी थी और टाँगों में लँगोटीनुमा एक अँगोछा फँसा हुआ था। रात के सन्नाटे में हमने महसूस किया कि मेरे भाई ने मेरी खोजबीन शुरु कर दी है और गाँव के लोग आवाजें देते हुए स्टेशन की ओर बढ़ रहे हैं। हमने प्लेटफार्म को चोरी से पार किया और पटरी के उस पार, तैयार खड़ी गाड़ी में हम दोनों धड़कता दिल और डरावना वातावरण लेकर बैठ गए। गाड़ी रतलाम की तरफ चल पड़ी। मैंने चाँदनी में देखा कि हमको ढूँढने वाले निराश वापस लौट गए। मैंने केसरपुरा स्टेशन छोड़ा उस समय न तो आँख में आँसू आए, न मुझे घर का कोई मोह लगा। एक मुक्ति की साँस ली और मैंने यात्रा शुरु कर दी। हम दोनों ही बिना टिकट थे। माँगीलाल मुझे शुरु से ही विचलित लगा और कभी-कभार यह विचार मन में आता कि यह भला आदमी कहीं मुसीबत नहीं बन जाये।

3 - पहले पड़ाव की पिटाई, पहली कमाई और गेरुआ धारण करते ही पिटाई

'सवेरे गाड़ी रतलाम आई और हम दोनों एक टी.टी. के हाथ फँस गए। हम दोनों 'बिना टिकिट अद्धों' की जमकर पिटाई हुई। मार खाना मेरे लिए नई बात नहीं थी पर माँगीलाल के लिए इस प्रकार पिटना एक असाधारण बात थी। उसके छक्के छूट गए। पहला सवेरा ही उसके लिए अपशकुन से शुरु हुआ था! इस पिटाई ने मेरा मनोबल तो बढ़ाया पर माँगीलाल का मनोबल तोड़ दिया।

'रेल की पटरी-पटरी हम दोनों रतलाम से दाहोद या दोहद तक पैदल आये। मैं कह नहीं सकता हूँ कि यह दूरी अनुमानतः कितनी होगी। कम-से-कम 35 और अधिकाधिक 50 मील तो यह फासला होगा ही। रास्ते में भीख माँगना और पेट भरना। न मेरे पास पैसा न माँगीलाल के पास कौड़ी। हाँ, माँगीलाल के पास एक चादर जरूर थी ओढ़ने को। उस चादर ने सर्दियों में हमको बड़ा सहारा दिया। वह चादर उस समय हमारे लिए वरदान थी।

'दाहोद पर एक रेलवे स्टेशन मास्टर की सहानुभूति अनायास ही हमको प्राप्त हो गयी। उसने हमको रेल में बैठा दिया। इस सहानुभूति को मैंने हिंगलाज माता का चमत्कार समझा और माँगीलाल को जब मैंने यह बात समझाई तो उसका टूटा मनोबल फिर जुड़ता-सा लगा।'

मैंने दादा से सवाल किया 'वह सन् 1930 का जमाना था। आप एक पटवारी के पुत्र और रेल में आर-पार घूम रहे थे। क्या उस समय के राजनीतिक वातावरण का आपको कुछ खयाल आता है?'

दादा बोले- 'हाँ, भारत तब अविभाजित था। नमक आन्दोलन की चर्चा यहाँ-वहाँ हम लोग सुनते थे। साबरमती आश्रम का नाम मैंने सुना था और गाँधीजी हमारे लिए अवतार की तरह हो चले थे। रेलांे में भी मुसाफिर स्वराज्य की बात करते थे। मैंने तब भी यह यह अन्दाज लगा लिया था कि स्वराज्य बराबर आएगा पर मेरा कच्चा मन यह नहीं मानता था कि बिना लड़े आजादी कैसे आएगी? खैर! हम बिना टिकिट ही दोहद से चलकर डाकोरजी आ गए। यहाँ आते ही हमने जैसे-तैसे अपने-आपको स्टेशन से बाहर किया और हम दोनों एक अन्न-क्षेत्र में जा पहुँचे। तब डाकोरजी में 80-90 अन्न-क्षेत्र थे। वहाँ हम लोगों ने अपना वेश बदला, तिलक-छापे लगाये और माँग-तूँगकर कपड़े बदले। अन्न-क्षेत्रों में विभिन्न उम्र के साधुओं का जमघट लगा रहता था। वातावरण वहाँ का बहुत ही धार्मिक और साधुओं के लिए निश्चिन्तता का था। साधुवेश में रहने वालों के लिए दोनों समय का खाना और शाम को विश्राम का साधन, आसान और आदर से जुट जाया करता था। खाना और रामदेवजी के गीत गाना तथा भिक्षा माँगना हमारा काम था। पर मैं देखता था कि माँगीलाल कुछ अनमना रहता है और मेरे कदम से कदम मिलाने में उसे हिचक होती है।

'यहाँ से बिना टिकट ही हम आगे बढ़े। रेल से ही हम दोनों आनन्द आये और आनन्द से अहमदाबाद आ गये। अहमदाबाद में हमारे सामने फिर से खाने और सोने-बैठने की समस्या

आ गयी। पर भाग्य हमारे साथ शुभ था। घूमते-फिरते अनायास ही हमें हमारे ही गाँव नयागाँव का एक लक्ष्मण नायक नामक आदमी मिल गया। लक्ष्मण नयागाँव से कई दिनों पहले हिंगलाज माता के नाम से ही चला था। यहाँ वह मजदूरी करके अपना गुजर-बसर कर रहा था। उसने हम दोनों को भी मजदूरी पर लगा दिया और हमारा काम चल निकला। वास्तव में लक्ष्मण हम लोगों को एक अन्न-क्षेत्र में मिला। हम लोग अन्न-क्षेत्र की तलाश हर मुकाम पर जाते ही करते थे। लक्ष्मण भी दिन-भर मजदूरी करता था और शाम-सवेरे का खाना अन्न-क्षेत्र में ही खाता था। अब हमारा भी यही क्रम हो गया। लक्ष्मण के साथ ही हम लोग भी दिन-भर मजदूरी करते और दोनों समय का खाना अन्न-क्षेत्र में ही खाते। हमें पहली मजदूरी एक आना मिली। जब उस समय यह एक आना मेरे हाथ में आया तो आँखों में आँसू आ गए। इन आँसुओं में हर्ष और क्षोभ का मिश्रण था। यह वह पैसा था जो विशुद्ध रूप से मेरे लिए ही खर्च होने को मेरे हाथ में आया था और क्षोभ इस बात का था कि मैं एक निकम्मी जिन्दगी जीने के लिए अभी भी विवश हूँ। पिताजी-माताजी यदि मुझे पढ़ाते तो आज मुझे न तो इस प्रकार भीख माँगनी पड़ती और न तन तोड़ना पड़ता। लक्ष्मण करीब तीस वर्ष का था और उसने दुनिया देखी थी। उस समय अहमदाबाद देख लेना परियों की कहानी जैसा लगता था। अहमदाबाद में हम लोग कोई दो या ढाई माह रहे होंगे। हम दोनों ने मजदूरी कर-करके, कमरतोड़ मेहनत की और कीब 25-25 रुपये इकट्ठे कर लिए। हम दोनों के पास 49-50 रुपया था और यह राशि उस जमाने में बहुत बड़ी मानी जाती थी।

'ज्यों ही हम पैसों से मजबूत हुए कि हम दोनों ने अहमदाबाद से मेहसाना का टिकिट कटाया। अपने कपड़े भगवा रंगवाए। रुद्राक्ष की मालाएँ पहनीं और पहली ही नजर में साधु दीख सकें, ऐसे बन गए। मेहसाना में हम लोग एक अखाड़े में प्रविष्ट हुए। यह अखाड़ा गुसाइयों का था। हम दोनों किशोरों को भगवा कपड़ों में देखते ही हमारी आशा के विपरीत कई गुसाई हम पर टूट पड़े और हम दोनों को बुरी तरह पिटना पड़ा। मैंने कई महीनों के बाद मार खाई थी। घर में परिजनों से पिटता था, उसके बाद रतलाम में टी. टी. से पिटा था और उसके महीनों बाद यहाँ गुसाइयों से पिटा था। पर यह मार खाने में मुझे अपार सुख मिला था। यह मार मैंने साधुवेश के लिए खाई थी और यह मेरा गौरव था। हिंगलाज माता का मेरा संकल्प और भी दृढ़ हो गया। पर इस अखाड़े में हम दोनों, इन गुसाइयों द्वारा आवारा घोषित कर दिए गए और सूर्योदय से पहले ही हमको मेहसाना छोड़ने पर विवश होना पड़ा। हम अपने शिव संकल्प की सात्विकता उन मट्ठ दिमागों के दिलों में जमा ही नहीं पाए। हमने बहुत ही बुरी मनःस्थिति में मेहसाना छोड़ा। अब हमारी यात्रा पैदल ही शुरु हुई। कच्छ यहीं से शुरू हो जाता है।'

मैं और मेरे साथ कमरे में बैठे सभी साथी चौकन्ने हो गये, पर दादा अपनी देहाती हँसी हँसे और कहने लगे- 'यह वह समय नहीं है जबकि मैंने कच्छ पैदल पार किया। वास्तव में कच्छ मैंने अपनी इस महान यात्रा से आते समय पैदल पार किया था। जिस जगह से मैंने कच्छ

की अपनी पैदल यात्रा शुरु की थी वह स्थान आज पाकिस्तान में है और जब भी मुझे इस बात का आभास होता है, मेरा मन रो उठता है।'

हम सबकी साँस वापस आयी हमने फिर अपने-आपको आश्वस्त किया और सुना - 'महसाना से कच्छ की ओर लूनो नदी है। जैसा इस नदी का नाम है वैसा ही इसका पानी भी है। लवण शब्द से लोन और फिर लूण तथा लून और लूनी, यही कुछ इस शब्द का क्रम रहा होगा। न तो मैं भाषा-शास्त्री हूँ और न शब्द-शास्त्री, पर इस नाम से नमक का अर्थ साफ है। लूनी नदी में उस समय पानी था। पानी, नाम के अनुरूप खारा था और पीने के लायक नहीं था। हमने इस नदी को पैदल ही पार किया। हमारे पास एक ओढ़ना और बढ़ गया था जो हमने अहमदाबाद से खरीदा था। नदी पार करते ही हम लोग कच्छ की सीमा पर राधनपुर नामक गाँव में आ गये। उस समय यह कस्बा करीब तीन हजार की आबादी था। भगवान की दया से आज तो इसकी आबादी और भी बढ़ गयी होगी।

4 - संगाती ने धोखा दिया, घर वापसी से बाल-बाल बचे

राधनपुर का वातावरण बहुत ही धार्मिक था। साधु-सन्तों और सन्यासियों के लिए कहीं किसी बात की कमी या अनादर की बात नहीं थी। जगह-जगह अन्न-क्षेत्र चलते थे और कच्छी धनिक खुले दिलों से इन अन्न-क्षेत्रों की व्यवस्था करते थे। कोई भी यात्री भूखा नहीं सोता था। खाना भर-पेट मिलता था और धार्मिक गीतों से वहाँ की गलियाँ अनवरत गूँजती रहती थीं। मुझे पूरी तरह याद है कि कच्छ में उन दिनों अन्न-क्षेत्रों की भरमार थी। किसी की दूकान पर जाकर हम खड़े हो जाते तो वहाँ से या तो नगद पैसा या फिर भोजन की चिट्ठी मिल जाती थी। बड़े-बड़े बाड़ों में यह व्यवस्था यात्रियों के लिए होती थी। प्रायः सभी अन्न-क्षेत्र या बाड़े, साधुओं से भरे रहते थे। अकसर होता यह था कि साधुओं को बिना माँगे ही भर-पेट भोजन और यात्रा-व्यय के लिए नगद पैसा मिल जाता था। कोई भी द्वार निराश नहीं लौटाता था। ये बाड़े ही वहाँ अन्न-क्षेत्र थे और साधुओं के लिए आवास भी यही बन जाते थे। दूर-दूर के थके-माँदे सन्यासी-साधु और यात्री, कच्छ में आकर अपना कष्ट भूल जाते थे। एक नई प्रेरणा और शक्ति का संचार, कच्छ में आते ही वहाँ की जनता की व्यवस्था से हो जाता था। सारा लोक-जीवन अपार श्रद्वा और साधु-सेवा से परिपूरित था। मैंने अपने जीवन में वैसा वातावरण, उसके बाद आज तक फिर कभी नहीं देखा। मैं समझ नहीं पाता था कि वहाँ ऐसा क्या था जो वातावरण को इतना प्रेरक बनाए हुए था। पता नहीं, आज वहाँ पर लोक-जीवन की क्या स्थिति है। यह बात सन् 1930 के अन्त और 1931 के आरम्भ की है। हम लोग प्रायः अन्य टोलियों के साथ ही मठों में ही ठहरते थे। ये बाड़े या अन्न-क्षेत्र ही मठ कहलाते थे। इन मठों को मैं आजीवन नहीं भूल सकूँगा। मैं एक महाराष्ट्रीय ब्राह्मण और मेरे साथ

एक खटीक हरिजन! परन्तु उस जमाने में भी हम लोग इन मठों में बिना किसी छूत-छात और जात-पाँत के भेद-भाव के, आराम से गाते-खाते थे और हिंगलाज माता की जय बोलते थे। हमारा साधु वेश ही इसकी जड़ था और अब हम यह सोच भी नहीं सकते थे कि सिवाय साधु के हमारा, अपना और भी कोई जीवन है।

'राधनपुर से हमारी यात्रा फिर भी पैदल ही रही। न किसी बात की चिन्ता, न कमी। 10-15 मील प्रति-दिन पैदल चल कर हम लोग कोई 10-12 दिनों में भुज पहुँच गये। इस पद-यात्रा में भुज जाने से पहले याद रखने काबिल हमको केवल एक गाँव मिला। इसका नाम चितरोल है। आज भी यह गाँव बराबर बसा हुआ होगा ही। यहाँ हम एक रात एक गुसाई मठ में रहे। इस मठ में हमको किसी तरह का अजनबी व्यवहार नहीं मिला। पहले जैसा गुसाइयों ने हमको मारा-पीटा था उस पर से हम डरे हुए तो थे पर जब मठ में गए तो वहाँ का वातावरण अन्य मठों की तरह ही साधुपालक मिला। यहाँ न जाने क्या कुछ हुआ कि माँगीलाल एकदम बदल गया। न जाने किस समय वह पुलिस में पहुँच गया और उसने मेरे खिलाफ यह रिपोर्ट लिखा दी कि मैं उसे घर से भगाकर लाया हूँ। उसने मुझसे जिद की कि मैं उसे वापस उसके घर छोड़ आऊँ नहीं तो वह मुझे गिरफ्तार करवा देगा। इस रिपोर्ट के पीछे उसका मंशा यही थी कि मैं डरकर अपना इरादा बदल दूँ और उसको नयागाँव छोड़ने के लिए लौट जाऊँ। मुझे थाने में बुलाया गया और हम दोनों की जाँच की गई। चूँकि माँगीलाल उम्र में मुझसे बड़ा था सो थानेदार ने उल्टा उसी को तमाचा दिया कि यह कैसे हो सकता कि छोटा लड़का बड़े लड़के को भगा लाए? उसने कहा कि यह जिम्मेदारी माँगीलाल पर तो आ सकती है कि उसने मुझे भगाया होगा पर मैं उसे कैसे भगा सकता हूँ? हाँ, कोई लड़की का मामला होता तो थानेदार यह मानने को तैयार था कि छोटी उम्र की लड़की जरूर बड़ी उम्र के जवान को बहका कर घर से भगोड़ा बना सकती है। थाने से मेरी जान छूट गई पर माँगीलाल से मेरा पीछा छूटना मुश्किल था। थाने से जैसे ही हम लोग मठ में वापस आए कि उसने मेरा जीना मुहाल कर दिया। गाँधीजी के सत्याग्रह में कितनी ताकत हो सकती है यह मुझे माँगीलाल के उस दिन के व्यवहार से ज्ञात हुआ। मैंने लाचार होकर अपना रास्ता बदलने की घोषणा की और मैं माँगीलाल को लेकर, एक संरक्षक की तरह वापस नयागाँव के लिए, दण्ड-कमण्डल समेट कर पैदल ही चल पड़ा। अब मैं हर दृष्टि से माँगीलाल का नेता था। मैंने अपने-आप यह जिम्मेदारी ओढ़ ली थी कि उसे घर वापस छोड़ दूँ।'

यह कहते-कहते दादा अपनी आँखों को मसलकर चौकस हो गए। मैंने देखा कि एकाएक उनकी आँखों में नमी का एक बादल आया और वापस चला गया। कमरे में हम जितने भी लोग थे वे सब माँगीलाल पर खीज उठे और दादा पर सबकी सहानुभूति बरस पड़ी। दादा ने हाथ के अखबार की चार-पाँच तह की, अपने हथेली से सिपहिया बालों को एक बार शेप दिया। अब वे पूरे मूड में थे। कहने लगे -

'हम पैदल ही माँडवी आए। मेरा रास्ता बदल चुका था। वहाँ से धर्मादे की नाव में बैठकर माँगीलाल को लेकर मैं बेट द्वारिका आया। बेट द्वारिका से गोमती द्वारिका होता हुआ मुझे वापस अहमदाबाद आना पड़ा। अब तक हम लोग रेल यात्रा के सारे गुर सीख चुके थे और कोई भी स्थान हमें पराया नहीं लगता था। एक अनब्याहा आत्मविश्वास हमारे भीतर हिलोरें ले रहा था। माँगीलाल को घर की उमंग थी और मुझे वापस लौटने की जल्दी। नादान संगाती ने मुझसे राह बदलवाई थी पर हिंगलाजा माता के दर्शनों की उत्कट अभिलाषा मुझे बावला बनाए जा रही थी। अहमदाबाद से ही रेल द्वारा हम रतलाम आए। रतलाम आते ही मैंने माँगीलाल के हाथ जोड़ लिए। मैंने उससे साफ कह दिया कि अब मैं वापस अपनी मंजिल की तरफ जाऊँगा और वह यहाँ से गाड़ी पकड़ कर नयागाँव चला जाए। रतलाम से केसरपुरा के लिए सीधी गाड़ी मिलती है और वह इस रास्ते से वाकिफ था। उसने ज्यादा जिद नहीं की और 'जय हिंगलाज माता की' कहकर हम अपने-अपने रास्ते हो गये। मैंने उसे इजाजत दी कि वह चाहे तो मेरे घर साफ कह दे कि मैं हिंगलाज माता के दर्शन किये बगैर वापस नहीं लौटूंगा। इस समय मुझे अपना घर छोड़े करीब 5 मास हो गये थ। मालवा में वसन्त का पहला चरण पड़ गया था और यात्राएँ सुहावनी हो चली थीं। मैं तो शारीरिक और मानसिक रूप से 1930 की कार्तिक पूर्णिमा से ही लिपटा हुआ था। जहाँ से शुरु हुआ था वहीं से फिर से, एक से गिनवा दिया माँगीलाल ने। भाग्य को दोष देने के सिवाय मैं कर भी क्या सकता था? माँगीलाल उधर अजमेर वाली गाड़ी में बैठा और मैंने फिर से दोहद के लिए गाड़ी पकड़ ली।'

5 - साथी मिला भी तो अन्धा, पहुँचे कराची, हिंगलाज यात्रा शुरु

दादा की संकल्पशक्ति और जीवट को हम सबने फिर एक बार प्रणाम किया और फिर हमने दादा की ओर उत्सुकतापूर्वक देखा। दादा कह रहे थे -

'रतलाम में रेल के डिब्बे में मुझे हाड़ौती के तीन सहयात्री मिल गये। ये तीनों भी साधु वेश में थे और मेरी ही तरह हिंगलाज माता की यात्रा के लिए निकले थे। इनमें दो गुसाई थे। इन तीन यात्रियों में एक यात्री बिलकुल अन्धा था और तीनों अधेड़ थे। मैं ही इनमें किशोर फँसा था। साधुओं में जैसी कि परम्परा रही, छोटे साधुओं से बड़े साधु बहुत काम-काज करवाते हैं। यहाँ, इस टोली में, दोनों गुसाइयों ने यह अन्धा मेरे सिपुर्द कर दिया। रास्ते भर अन्धे की सार-सम्हाल करना तथा रेल में चढ़ाना-उतारना मेरा काम था। उसका खाना-पानी जुटाना भी मुझे ही करना होता था और ब्याज में उन सन्यासियों की लताड़-गालियाँ भी सुननी होती थीं।

पर मैं हर मोल पर हिंगलाज माता जाना चाहता था और जब मुझे इन तीन सहयात्रियों के रूप में ठेठ हिंगलाज माता तक का साथ मिल गया तो मैंने हर मुसीबत को वरदान मानकर उसकी गलबहियाँ डालीं। हम लोग रेल से ही अहमदाबाद पहुँच गए। उस समय मेरे सामने एकाएक अन्धकार छा गया जब अहमदाबाद में वे दोनों गुसाई साधु उस अन्धे को मेरे पास छोड़कर, बिना कुछ कहे-सुने चुपचाप रात में कहीं खिसक गए। मेरे पास साथी था पर ऐसा जो हर तरह से मुझ पर बोझा था। माँगीलाल और इस अन्धे में जमीन-आसमान का फर्क था। मैं लोकगीतों का, मालवा का पला-पुसा किसान आदमी। अपने मानवीय संस्कार कैसे छोड़ सकता था? बार-बार मन में विचार आता था कि इस अन्धे को यहीं छोड़ दूँ। पर मन ने कभी भी इसकी गवाही नहीं दी। उस अन्धे की उम्र पचपन या साठ की रही होगी। हृदय ने हमेशा बुद्धि पर अधिकार रखा और मैंने अपनी ओर से उस अन्धे सहयात्री को नहीं छोड़ा। उसको मैं छोड़ता भी कैसे? भगवान जो भी करता है, शुभ ही करता है। अहमदाबाद से आगे की यात्रा में यह अन्धा मेरे लिए वरदान साबित हुआ। इसके कारण मुझे यात्रा में कई सुविधाएँ और मार्ग में भोजनादि तथा दान-दक्षिणा आदि आशा से अधिक मिलने लगे। मेरे लिए यह सहयात्री अब मुनाफे का मामला हो गया। इसकी उपयोगिता को मैंने समझा और उसके प्रति मेरी सेवाएँ अधिक निश्छल होती गईं। अन्धा पल-पल मुझे आशीष देता था और मेरे मंगल के लिए मनौती करता था। रेल में सीट मिलना तो अब मेरे लिए आसान हो गया था। यात्री बुला-बुलाकर पास बैठाते थे और कुशल पूछ कर खाना दे दिया करते थे। मुझे और चाहिए भी क्या था? उसको आँखें और मुझे पाँखें चाहिए थीं। भगवान ने अनायास ही सब जुटा दिया था। मैं एक बार फिर ताजा हो गया। भगवान को धन्यवाद देता-दिलाता मैं अब लम्बे रास्ते हिंगलाज के लिए चला।'

मैंने पूछा कि दादा लम्बा रास्ता क्यों पकड़ा? तो दादा ने मेरी अक्ल पर तरस खाते हुए कहा -

'जब साथ में अन्धा हो तो कितना रास्ता पैदल चलोगे भैया? इसलिए रेल का ही रास्ता पकड़ना जरूरी था। तो, अहमदाबाद से पाली-मारवाड़ जंक्शन और वहाँ से लूनी जंक्शन होते हुए मैं सीधा जोधपुर पहुँचा और वहाँ से मैंने सिन्ध-हैदराबाद के लिए गाड़ी पकड़ी। अन्धा मेरे साथ था। उस सहित मैं आसानी से हैदराबाद जा लगा। यह यात्रा मेरी पूर्व-यात्रा की तुलना में ज्यादा सुविधाजनक और आसान थी। सन् 1931 का जून बीत रहा था और मैं हैदराबाद की

सराय में अन्धे की सेवा करता हुआ आगे की यात्रा का गणित बैठा रहा था। न तो पैसों की फिक्र थी न खाने की। रास्ते में कोई रेल से उतार देता तो हम लोग उतर जाते। जहाँ मौका मिलता, वहीं फिर बैठ जाते और इसी प्रकार हैदराबाद से रेल द्वारा हम लोग कराची पहुँच गए। अन्धे को मैं बताता जाता था कि हम लोग कहाँ पर हैं और हमें क्या-क्या भुगतना पड़ रहा है। वह सुनता-समझता बराबर था पर लाचार था। उसे इस बात का बड़ा दुःख था कि वह मेरे लिए मुसीबत बन कर आया। मैंने बार-बार उसको समझाया कि ऐसी कोई बात नहीं है तो वह अन्धा ठण्डी साँसें लेकर आसमान की ओर देखने की चेष्टा करके अपनी गीली आँखें पोंछ लिया करता था। उसका मन बहलाने को मैं विनोद का हर पल टटोलता रहता था। मन ही मन हम दोनों को यह बात चाकू की तरह चीरती थी कि कराँची से आगे की सारी यात्रा पैदल है और अन्धा मुझसे अलग हो जाएगा। हम दोनों में से किसका दुःख ज्यादा है इसका अनुमान नहीं लगाया जा सकता था। एकाध बार तो मुझे लगा कि मैं इस अन्धे के मोह में कहीं अपनी यात्रा से ही विमुख नहीं हो जाऊँ। पर ऐसा हुआ नहीं।'

मुझे लगा कि दादा अन्धे की स्मृतियों में बहुत ज्यादा खो गये हैं। मैंने भी उनको एक पल का विश्राम दिया। उनकी भावनाओं को छेड़ने की कोशिश हममें से किसी ने भी नहीं की। वे अपने आप तटस्थ होकर कहने लगे-

'कराँची से हिगलाज माता के लिए छड़ी उठती है। छड़ी उठाना एक महत्वपूर्ण और मनोहारी समारोह होता है। कराँची में हिंगलाज माता जाने वालों के लिए तीन अखाड़े हैं। अखाड़े से मतलब आप मठ भी ले सकते हैं। एक अखाड़ा रामगिरि स्वामी का था जो कि जूना अखाड़ा कहलाता था। रामगिरि स्वामी उसका सर्वेसर्वा था। दूसरा अखाड़ा बड़ा अखाड़ा कहलाता था। और तीसरे का नाम था भटियाणी भाई का डेला। ये अखाड़े एक प्रकार मे सम्प्रदायों के आधार पर माने जाते थे। प्रत्येक अखाड़े में 30-30, 40-40 अगुआ पलते थे। अगुआ वह कहलाता है जो हिंगलाज माता तक की यात्रा यात्रियों को करवाने की व्यवस्था करे और पूरे मार्ग भर धार्मिक रस्मों के अनुसार उनका मार्ग-निर्देश करे। इन अखाड़ों-अगुवाओं को समस्त सुख-सुविधाएँ दी जाती थीं। यात्री लोग अपने-अपने गुरुओं की मान्यताओं के अनुसार अपने-अपने अखाड़े में रुकते थे और जब पर्याप्त यात्री एकत्र हो तो अखाड़े का महन्त छड़ी उठाने की आज्ञा देता था। एक अगुवा के साथ 35 से लेकर 40 तक यात्री यात्रा करते थे। हम लोग रामगिरि के अखाड़े में ठहरे थे। रामगिरि एक बाल-बच्चेदार गृहस्थ साधु था। उसने मुझे बेहद

लाड़-प्यार और दुलार के साथ रखा। जो प्यार मुझे माता-पिता और भाई से नहीं मिला था, वह यहाँ, मालवा से सैंकड़ों-हजारों मील दूर, एक अनजाने साधु ने मुझे दे दिया था। मैं सब-कुछ भूलकर अखाड़े की व्यवस्था में जुटा रहता था। मुझे केवल एक बात याद थी कि अब मैं शीघ्र ही हिंगलाज माता के दर्शन कर पाऊँगा। अखाड़ों की व्यवस्था के लिए हमको कराँची में बड़े-बड़े टोकने लेकर हिन्दू बस्तियों में रोटियाँ माँगकर लानी होती थीं। सवेरे दस बजे तक हम लोग गलियों में टोपले लेकर भीख माँगते। कराँची में भी उस समय भीख मिलने में कोई तकलीफ नहीं होती थी। हमारे टोपले काफी बड़े होते थे पर वे आशा से अधिक जल्दी भर जाते थे। शाक-सब्जियाँ हमको बस्ती से माँगने की मनाही थी। उसकी व्यवस्था धरमबाड़ों से होती। बड़े-बड़े बाड़ों में ऐसे अखाड़ों के लिए सब्जियाँ बनाई जाती थीं जो कि हमको जाते ही मिल जाती थीं। मैं शाम-सवेरे उस अन्धे को भी सम्हालता था और अखाड़े का काम भी देखता था। यहाँ मैं कोई चालीस-पचास दिन रहा। एकादशी और पूर्णिमा को हम लोग बस्ती में जाते और साधु-सन्तों के लिए पैसा भी माँगते थे। जो भी साधु जिस भी दुकान पर खड़ा हो जाता वहाँ से खाली हाथ नहीं लौटता था। जो जितना माँग लाता वह उसकी सम्पत्ति मानी जाती थी। यह बात आवश्यक थी कि यह माँगना केवल हिन्दुओं की दुकानों से ही हो। यदि गैर-हिन्दू की दुकान पर कोई साधु चला जाता तो अखाड़े का महन्त उस पर कार्यवाही करता था और उसकी, आगे की यात्रा रोक दी जाती। छड़ी उठने तक यह क्रम चलता रहता था।

6 - गाँजे की चिलम स्वीकार याने चार गम्भीर पाप क्षमा

'छड़ी उठने का मतलब है, यात्रा का शुभारम्भ। कनेर की एक बड़ी, छड़ी जैसी डाली काट ली जाती है। उसके ऊपरी छोर पर एक झण्डी बाँधकर, जो भी अगुआ होता है, उसकी कमर पर दुपट्टे से वह छड़ी बाँध दी जाती है। उस छड़ी की विधिवत आरती उतारकर पूजा की जाती है और 'हिंगलाज माता की जय' के नारों और अन्य धार्मिक नारों के साथ अगुआ, अखाड़े के महन्त से आज्ञा लेकर यात्रा शुरु कर देता है। यात्री उसके पीछे-पीछे चलते हैं। जब तक छड़ी नहीं उठती है तब तक सभी यात्री और अखाड़े के साधु-संन्यासी अखाड़े में अखण्ड भजन-पाठ करते हैं। इकतारों और तम्बूरों पर झूम-झूमकर गाते हुए ये यात्री, अपनी-अपनी टोलियों के साथ निरन्तर साधना करते रहते हैं। भजनों का क्रम कभी नहीं टूटता था। चाहे रात हो या दिन, कोई न कोई बराबर गाता ही रहता था। मैं अपने गाँव से ही इन गीतों का अच्छा गायक रहा हूँ और तम्बूरे पर आज भी वे गीत उसी तन्मयता के साथ गा लेता हूँ। मातृभाषा मेरी मराठी है, पर आज भी अपने परिवार में बराबर मराठी बोल नहीं पाता हूँ। धाराप्रवाह

मालवी बोलना मेरा भाषा-गुण हो गया है। मेरे परिवार के शेष सभी सदस्य जब ठेठ मराठी में बात करते हैं तो कई शब्द मेरे पल्ले नहीं पड़ते हैं। मुझे इसका कोई दुःख नहीं है, और न मेरे बच्चों में ही यह कॉम्पलेक्स मिलेगा। मैं तो अपनी मातृभाषा भी मालवी ही मानता हूँ और रामदेवजी के गीत आज भी मुझे उतनी ही शक्ति से आकर्षित करते हैं जितने से कि वे बचपन में किया करते थे।

'कराँची से हिंगलाज माता तक जाते समय 18 पड़ाव थे और आते समय 18 पड़ाव। छड़ी की कुल 24 पूजाएँ होती थीं। ये पूजाएँ विभिन्न पड़ावों पर अलग-अलग समय पर होती थीं। इन पूजाओं को अगुआ ही सम्पन्न कराता था और यदि एक भी पूजा किसी ने कम कराई तो उसकी यात्रा अधूरी मानी जाती थी। पूजा का खर्च प्रति यात्री कोई 30 या 32 रुपया आता था। कराँची से हिंगलाजा माता जाने के 18 और आने के 16 दिन। इस हिसाब से 34 दिनों का उस समय का ऊँट-किराया प्रति व्यक्ति सवा रुपया देना होता था। मैं जिस जत्थे में था उसमें कुल 35 व्यक्ति थे और उसका अगुआ बालभारती नामक गुसाई था। बालभारती, रामगिरि स्वामी का पटु शिष्य और हिंगलाज-माता-यात्रा का प्रवीण अगुआ माना जाता था। उस अखाड़े की वह शान था। यात्रा तो सभी यात्री पैदल ही करते थे पर उनका सामान और खाने का राशन वगैरह ऊँटों पर चलता था। एक या सवा माह का राशन लेकर एक-एक जत्था चलता था।

'कराची से हिंगलाज माता तक जाते समय के जो 18 पड़ाव थे उनके बीच का फासला औसतन 16 से 20 मील प्रति पड़ाव बैठता है। केवल दो पड़ाव ऐसे हैं जिनका फासला चार-चार मील का है, सो आते समय ये दो पड़ाव तोड़ दिये जाते हैं। यही कारण है कि आते समय की यात्रा 16 दिन में पूरी हो जाती है।

'कराची से हिंगलाज माता का मार्ग अरब सागर के किनारे-किनारे पश्चिम की ओर है। समन्दर का खारा पानी और बालू-रेत का सम्मिश्रण! सँभल-सँभलकर चलना होता है। पाँव फिसलने का पूरा खतरा और गिरने का डर। सर्दियाँ वापस शुरु हो गयी थीं और 18 दिन की यह यात्रा रोमांचक तो थी ही, दिलचस्प भी कम नहीं थी। मैं तो अपनी मंजिल के मोह से 18 दिनों को भी एक छलांग में लाँघ जाना चाहता था पर राह अजानी थी और पूजाओं के बिना

यात्रा अधूरी मानी जाती थी। पूजा केवल अगुआ की करवा सकता था। साधनों का सवाल भी मेरे सामने प्रचण्ड था।

मुझे याद नहीं पड़ता कि छड़ी किस दिन उठी थी। पर अपराह्न में हमारा जत्था पहली जय बोला था। यह वह समय था जबकि मैंने अपनी आँखें पोंछ कर अपने अन्धे साथी को कराँची के अखाड़े में ही मुरझाए मन से छोड़ा था। इस समय मुझे बड़ी देर तक माँगीलाल भी याद आया। मैंने मन ही मन उस पर दया प्रदर्शित की। उसकी बदकिस्मती को कोसा और अपनी यात्रा के लिए चल पड़ा।'

दादा के सभी श्रोता यह जानने को उतावले थे कि वे अठारह पड़ाव कौन-कौन से थे। दादा ने हम सब के मन की थाह ली और हँसते हुए कहा-

'सबके नाम तो मुझे याद नहीं रहे पर पहला पड़ाव बाटिया भेरू का था। यह एक भैरव का स्थान था और हमको भैरव-पूजा करनी पड़ी थी। दूसरा पड़ाव लोटन नन्दी नाम का था। यहाँ यात्रियों को परलोक सुधारने के लिए लोटकर परिक्रमा करनी पड़ती थी। जिस प्रकार राख में गधा लोटन लगाता है उसी प्रकार यहाँ यात्रीगण लोटन लगाते थे। हर क्रिया पहले अगुआ करके बताता था। उसका अनुसरण सभी यात्री करते थे। इन दो पड़ावों के बाद जो पड़ाव मुझे याद आता हैं, वह चन्द्रकोप स्वामी का पड़ाव है। हर पड़ाव पर पूजा और दर्शन करना जरूरी होता था। चन्द्रकोप स्वामी का पड़ाव रम्य और मनोहारी पड़ाव था। ऐसा लगता था मानो एक बड़ी झब्बी उल्टी रख दी गई हो। सही माने में यह एक बुझा हुआ ज्वालामुखी पहाड़ है। जब हम लोग इस पड़ाव पर थे तब भी इसमें यदा-कदा मिट्टी के गरम लोंदे निकल जाते थे। चूँकि यह एक उल्टी रखी हुई चिलम की शक्ल का पहाड़ी पड़ाव है, सो यहाँ पूजा में चिलम चढ़ानी पड़ती थी। पूजा का सारा सामान अगुआ के पास रहता था और वह सब ऊँटों पर लदकर चलता था। पूजा की जो चिलम यहाँ चढ़ाई जाती थी वह गाँजे की चिलम होती थी। गाँजा भरकर 'अलख' की आवाजों के साथ गाँजे का दम अगुआ लगाता था। पूजा स्वीकार मान ली जाती थी।

जो भी यात्री जथे में होते हैं उनसे यहाँ चार प्रकार के पाप स्वीकार कराए जाते हैं। यदि किसी यात्री ने कभी नर-हत्या की हो, गौ-हत्या की हो, चोरी की हो या परस्त्रीगमन किया हो, उसको अपने ये या जो भी किया हो वह पाप स्वीकार कर अपनी चिलम उस झब्बी जैसे मुँह में फेंकनी होती थी। यदि चिलम उस मुँह में गिर जाती तो पूजा स्वीकार मानी जाती थी और उसके पाप चन्द्रकोप स्वामी ने क्षमा कर दिए हैं, यह माना जाता था और यदि वह चिलम बाहर गिर जाती थी तो फिर उसको पापी मानकर सोनम्यानी नामक अगले पड़ाव पर छोड़ दिया जाता था। यदि किसी की चिलम वैसे भी झब्बी में नहीं पड़े तो यह समझा जाता है उसने अपने पाप छिपाये हैं और उसको सोनम्यानी पर रुकना होता। मेरे जत्थे में सबकी चिलम मन्जूर हो गई थी।

चन्द्रकोप स्वामी के पड़ाव पर रात को सवा मन आटे का भोग लगाया जाता था। आस-पास के स्थानों से ऊँटों की मेंगनी बीन-बीन कर हर यात्री को ईधन जुटाना होता था और आठ बाई आठ का एक बड़ा गड्ढा रेत में तैयार करके उसमें वे मेंगनी बिछा कर आग का जगरा लगाया जाता है। उस पर यात्री अपना-अपना आटा हिस्सेवार लेकर रोटियाँ बनाते थे। जब भोजन बनता तो उसका भोग चन्द्रकोप स्वामी को लगाकर उसका बँटवारा होता था। प्रति व्यक्ति एक-एक रोटी तो वहाँ के कुएवाले को दी जाती थी। यह कुएवाला वहीं रहता था और यात्रियों को पानी पिलाया करता था। उसके बाद प्रति व्यक्ति एक-एक रोटी अगुआ को दी जाती थी। उसी प्रकार एक-एक रोटी ऊँटवाले के काम आती थी। प्रति व्यक्ति आधी रोटी निसपुरी की निकाली जाती थी। निसपुरी का मतलब है धर्मादे का खानेवाला। मैं इस जत्थे का निसपुरी था। निसपुरी की नियुक्ति अखाड़े का महन्त ही करता है। और यह सब स्वामी रामगिरि की कृपा का ही परिणाम था कि मैं निसपुरी बना दिया गया था। निसपुरी की इस प्रकार यह सारी यात्रा बिना पाई-पैसे के हो जाती है। मुझे यह फायदा मिला। यदि मैंने अन्धे की वह सेवा नहीं की होती तो शायद यह अवसर और पद मुझे नहीं मिलता। मेरा मन आज भी इस संयोग को उस अन्धे की आशीष का ही सुफल मानता है। एक बात मैं यह कह दूँ कि यदि कोई यात्री कुएवाले को उसकी रोटी नहीं देता तो कुएवाला उस यात्री को पानी नहीं पिलाता था। रोटियों के बँटवारे की इस व्यवस्था का सख्ती से पालन होता था। कुुएवाले के लिए उस बियाबान में ये रोटियाँ ही अवलम्ब थीं। यात्रियों के दल किसी निश्चित समय तो आते नहीं थे! जब तक दूसरा दल नहीं आए, उसे पहले दल द्वारा दिये गए राशन से ही अपना काम चलाना होता था।

7 - 'शरण भाई' की अनूठी परम्परा के जरिये आस्था की परीक्षा

'इन पड़ावों में गाँव के नाम पर केवल एक ही गाँव रास्ते में आता है। वह है सोनम्यानी। यह बाकायदा एक गाँव है। यहाँ हर यात्री की जाँच या परीक्षा होती है। यहाँ रामगिरि का अखाड़ा है। यहाँ एक कहावत प्रचलित है-

सोनम्यानी सुई का नाका
जहाँ रोके रामगिर काका

रामगिरि महाराज यहाँ जो जाँच करते थे वह बड़ी सख्त और सूक्ष्म होती थी। जाति, धर्म, सम्प्रदाय, गुरु, अखाड़ा, पंगत और न जाने किस-किस विषय पर वे न मालूम कौन-कौन से सवाल करते थे। अधिकांश सवाल धार्मिक मान्यताओं और नागपंथ की अध्यात्मिक मान्यताओं से सम्बन्धित ही किए जाते थे। हमारे दल के सभी 35 यात्री इस विकट परीक्षा में सफल रहे। यह जाँच पूरी पटक लेना ही बड़ी बात हुआ करती थी। रामगिरि काका की रोक को हटा देनेवाला यात्री इतना आत्मविश्वास प्राप्त कर लेता था कि वह हिंगलाज माता की यात्रा को सफलतापूर्वक सम्पन्न कर लेगा।'

दादा की आँखों में एक चमक आई और उनके जबड़े अपनी प्राकृतिक भिंचन के साथ भिंचे। मुझे लगा कि जैसे दादा ने अभी-अभी कोई परीक्षा देकर अपना परिणाम किसी अखबार में देखा हो। दादा कहते गये -

'जब हिंगलाज तीन-चार ही मील दूर रह जाती है तो वहाँ एक नदी आती है। इस नदी का नाम हिंगलाज माता के नाम पर हिंगोल नदी है। यह नदी पहाड़ों के बीच में से निकालती है और पहाड़ इसको दोनों तरफ से छत की तरह ढाँके हुए हैं। लगता है, पहाड़ों ने नदी को अपने हृदय में से होकर निकाला हो। इस नदी का पानी बेहद मीठा और पाचक है। पहाड़ों के आवेष्ठन के कारण यहाँ ध्वनि की प्रतिध्वनि कई मिनटों तक होती है। दूर-दूर से आये यात्री यहाँ कौतूहलवश बार-बार हिंगलाज माता की जय बोलते हैं और अपनी आवाज को सुनते हैं। यहाँ यदि यात्री कोई भजन शुरु कर दे तो वह क्या गा रहा है यह उसके खुद की ही समझ में नहीं आता है।

हिंगोल में स्नान करना हर यात्री के लिए अनिवार्य है। नदी की कछारें हरी-कच्च हैं। उतनी हरियाली एक साथ मैंने किसी नदी की कछार में आज तक नहीं देखी। यहाँ नहाने और पूजा के साथ एक रस्म आवश्यक रूप से पूरी करनी होती थी। हर यात्री को अपना एक शरण भाई बनाना पड़ता था। शरण भाई जो भी बनाया जाता था, वह अपने से उम्र में बड़ा होना जरूरी था। रस्म यह थी कि नदी की कछारों में झाऊ नामक झाड़ी बहुतायत से पाई जाती है। उस

झाड़ी की एक डगाली तोड़ कर उसकी दतौन बनाई जाती है और उससे दतौन कर शरण भाई के नाम पर नदी के किनारे ही, बालू रेत में उस दतौन को गाड़ दिया जाता है। जैसा कि मैंने बताया है, यहाँ से हिंगलाज माता केवल तीन-चार मील ही है, अतः हिंगोल नदी से जाकर हिंगलाज माता के दर्शन करके यात्री वापस तीन ही दिन में इस नदी के किनारे आ जाते हैं। यह देखा जाता है कि जो दतौन जाते समय शरण भाई के नाम पर बालू में गाड़ी गई है वह कुम्हलाई तो नहीं। यदि दतौन का डण्ठल तब तक हरा नहीं होता है या उग नहीं जाता है तो वह शरण भाई हिंगलाज माता को मान्य नहीं है। आस्था में कहीं गड़बड़ रह गई है। माता के दर्शन के समय शरण भाई का काम बहुत महत्व का होता था। यदि दतौन ने हरियाली नहीं पकड़ी तो यात्री और शरण भाई, दोनों ही अपने आप को माता के द्वारा प्रताड़ित मानते थे।

मुझे किसी ने अपना शरण भाई नहीं बनाया था। मैंने अपना शरण भाई राजस्थान के एड़वा माता नामक स्थान के लक्ष्मणगिरि नामक व्यक्ति को बनाया था। शरण भाई का यह रिश्ता हिंगलाज माता के यात्री और नाथ गुसाई पंथ को मानने वाले आजीवन निभाते हैं। जिस प्रकार भारतीय संस्कृति में राखी का भाई-चारा आजीवन पाला जाता है उसी प्रकार शरण भाई का भारी महत्व होता है। एक बार सगा भाई धोखा कर सकता है, पर शरण भाई मरते मर जाए, अपने संगाती भाई से कोई भी परलोक बिगाड़नेवाली बात नहीं कर सकता। यहाँ तक पाया जाता है कि परिवारों के झगड़े मौके-बे-मौके शरण भाई आकर पिटाते हैं। मेरा शरण भाई लक्ष्मण अभी जीवित है। वह मुझसे उम्र में दस वर्ष बड़ा है। शरण भाई को कोई भेंट या दक्षिणा नहीं दी जाती है।

शरण भाइयों के नाम पर गाड़ी जानेवाली दतौन के कारण पूरी हिंगोल नदी की कछारें हरी-कच्च धरी हैं। झाऊ लकड़ी की विशेषता यह है कि वह गीली भी भर्र-भर्र करके जलती है। सूखी जलाने का कोई सवाल ही नहीं उठता है। इतनी आसानी से जलने वाला ईंधन प्रकृति ने वहाँ पैदा करके यात्रियों पर अपार उपकार किया है। यात्रा के अन्तिम सोपान में जब कि यात्रीगण माता के दर्शनों को उतावले रहते हैं यह झाड़ी खाना बनाने में उनकी बहुत सहायता करती है। न तो कहीं किसी को लकड़ी बटोरने के लिए जाना होता है, न पानी की तकलीफ। हिंगोल नदी के पानी का जो स्वाद है, शब्द-शक्ति के बाहर की चीज है। मैं बयान नहीं कर सकता। उसे जो चखे वही जाने।

'हिंगलाज माता जाने के लिए नदी को पार करना होता है। पहाड़ एक सपाट ऊँची दीवार की तरह सामने है और नदी पहाड़े के सहारे-सहारे बहती है। नदी का बहाव तक इस दीवार के कारण बदल गया है। हिंगोल का पानी मैंने एक कमण्डल में ले लिया था। यह कमण्डल मैंने भुज से खरीदा था। उस समय माँगीलाल मेरे साथ था। यह कमण्डल मुझे समय-समय पर माँगीलाल की याद दिलाया करता था। ज्यों-ज्यों हिंगलाज माता करीब आती थी त्यों-त्यों मुझे

माँगीलाल और वह अन्धा अधिक याद आते थे। मैं भजनों और जयकारों के निनाद में उनको भूलने की चेष्टा करता था।

'पहाड़ पार करते ही घाटी में हिंगलाज माता का मोक्षदायी मन्दिर है। यात्रीगणों को पहाड़ पार करते ही सीधे हिंगलाज माता के मन्दिर नहीं जाने दिया जाता है। उतरते ही काली माता की एक भव्य मूर्ति है। पहले काली की पूजा और दर्शन करना होता है। काली मैया के लिए यहाँ बकरे की बलि देने का रिवाज था। आप पूछेंगे कि इस वनखण्ड बियाबान में बकरा कहाँ से आता होगा? पर जो भी अगुआ होता है वह इसकी व्यवस्था आसानी से कर लेता है। उन सुनसान पहाड़ों में वह अपनी एक निश्चित भाषा में विचित्र तरह की हाँक मारता था। यह एक प्रकार का कोड संकेत होता था। अगुआ की यह संकेत-पुकार पहाड़ों और नदी की कछारों में प्रतिध्वनि के कारण मीलों दूर तक सुनाई पड़ती थी और मिनटों तक गूँजा करती थी। उसे सुनकर कुछ ही घण्टों में वहाँ के मूल निवासी कबीलों के लोग बकरे लेकर भागे चले आते थे। बकरे का मोल-तोल अगुआ ही करता था और सभी यात्री उसका मूल्य बराबर चन्दा करके चुका देते थे। यह बकरा सारे दल की ओर से बलि दिया जाता था। जो भी यात्री माँस खाते थे वे यहाँ पूजा के बाद प्रसाद लेते थे और अपना जीवन सार्थक करते थे। काली की पूजा के पश्चात् पहाड़ के सहारे-सहारे हिंगलाज माता की तरफ यात्री-दल चलता है। काली माता और हिंगलाज माता के बीच में कोई दो-तीन फर्लांग की दूरी है। चूँकि हिंगोल नदी से आगे ऊँट नहीं जाते हैं सो ऊँट और उनके ऊँटैये वहाँ नदी-तट पर तीन-चार दिन का खेमा लगा देते हैं। जब यात्री वापस होते हैं तो फिर ये ऊँटवाले साथ हो जाते हैं। यहाँ से यात्रियों को अपना सामान और राशन स्वयं ढोना होता है।

'हिंगलाज माता और काली मैया के बीच की यात्रा सारी थकान उतार देने वाली होती है। रम्य हिंगोल का शीतल अमृत-जल और मनोहारी हरियाली, सिर पर घटाओं की तरह झूमते लुभावने पहाड़ और लोकगीतों के ललकते स्वर, सह-यात्रियों की, भाईचारे से लबालब भावनापूर्ण चमकती आँखें और लक्ष्य की ओर बढ़ते अथक पाँव, कुल मिलाकर ऐसा लगता था मानो जिन्दगी सफल हो गई हो। नदी का प्रवाह इस जगह हिंगलाज माता तरफ से काली मैया की तरफ है। लोगों को उल्टी धार चलना पड़ता है।

हिंगलाज माता मन्दिर की एक छवि (चित्र गूगल के सौजन्य से)

ज्यों ही हिंगलाज माता मन्दिर निकट आता है त्यों ही यात्रियों की जयध्वनियाँ भावातिरेक में ऊँची हो जाती हैं। न तन की सुध रहती है और न मन का भान। कोई भी यात्री कुछ भी गाने और कहने लग जाता है। मैंने महसूस कि पासवाला किससे क्या कह रहा है, यह किसी को याद नहीं। आज तक सहयात्री यह नहीं बता पाते हैं कि उन्होंने हिंगलाज माता के मन्दिर पर जाते समय क्या बात किससे कही थी। किसी की आँखों में अविरल आँसू-धारा है तो कोई गूँगे की तरह अवाक् देख रहा है। अपने-अपने स्वर में कुछ भी गाने लग जाते हैं। यह भान ही नहीं रहता कि कोई क्या कहेगा। यदि अगुआ होश में नहीं हो तो यह क्रम घण्टों चलता रह सकता है। सबकी तन्द्रा अगुआ ही तोड़ता है। यह मेरा ही अनुभव नहीं, कई यात्रियों का अनुभव है।

हिंगलाज माता मन्दिर की एक और छवि (चित्र गूगल के सौजन्य से)

हिंगलाज माता के मन्दिर पर जाते ही कोई भी दर्शन नहीं कर सकता है। ऐसा दर्शन वर्जित था। यात्री दल चाहे सुबह पहुँचे या शाम, रात को बारह बजे से पहले इस मन्दिर में अगुआ भी प्रवेश नहीं कर सकता है। हिंगलाज माता के मन्दिर के पास या वहाँ माँस नहीं खाया जाता है। माँस का वहाँ पूर्ण रूपेण निषेध है। यह सारा खान-पान काली माता के मन्दिर पर ही हो जाता है।

8 - हिन्दू तीर्थ: मुसलमान पुजारिन! प्राणान्तक पीड़ादायी गर्भ परिक्रमा और अजानी प्रौढ़ता की अनुभूति

सबसे ज्यादा आश्चर्य और सुख की बात यह है कि हिंगलाज माता का पुजारी सदा-सदा से मुसलमान होता आया है। कहा यह जाता है कि मुसलमान धर्म में मूर्ति-पूजा को कोई मान्यता नहीं है पर हिंगलाज माता जाकर कोई देखे कि वहाँ मुसलमान मूर्ति-पूजा करता है और अब भी वहाँ यही होता होगा। और भी विशेष बात यह है कि हिंगलाज माता की मूल पूजा कोई पुरुष नहीं कर सकता है। सो, वहाँ पुजारी नहीं हो कर पुजारिन हुआ करती है। मैं गया तब भी वहाँ की पुजारिन एक महिला थी। वह मुसलमान थी। मन्दिर के आसपास कनेरों के सघन झाड़ हैं। बड़ी मात्रा में कनेर यहाँ पैदा होती है। कनेर के वन के वन हैं। एक साथ इतनी कनेर मैंने इससे पहले न तो देखी थी न इसके बाद।

'हिंगलाज माता की मूर्ति खड़ी या बैठी नहीं है। यह मूर्ति लेटी हुई है। मूर्ति की चौकी के आस-पास, चारों ओर सँकरा, तहखाने जैसा परिक्रमा मार्ग है। इसके भीतर एक लौ सतत् जलती रहती है।

हिंगलाज माता की मूर्ति की छवि (चित्र गूगल के सौजन्य से)

'पूजा की विधि यह है कि रात बारह बजे के बाद अगुआ स्नान करता है और मन्दिर में प्रवेश करता है। मूर्ति पर एक कपड़ा ढँका रहता है। यह कपड़ा, हिंगलाज माता की चुनरी माना जाता है। जो भी यात्री-दल आता है, वह अपने दल की ओर से अगुआ के हाथों वह चुनरी हिंगलाज माता को चढ़वाता है। जैसे ही अगुआ भीतर आता है, वह माता की जय बोलकर कुछ मन्त्र बोलता है और पूर्व दल द्वारा चढ़ाए गए वस्त्र को हटाकर अपने दल की ओर से अर्पित की जानेवाली चूनर, माता की मूर्ति पर चढ़ा देता है। मूर्ति को निर्वसना कभी नहीं रखा जाता है। उतारा गया वस्त्र महिला पुजारी ले लेती है। यह चढ़ावा उसका माना जाता है। इसके बाद अगुआ सारे दल को अपने-अपने शरण भाइयों के साथ परिक्रमा के लिए सन्नद्ध कर देता है। उस तहखानेनुमा परिक्रमा-गर्भ में न तो बैठे-बैठे परिक्रमा होती है, न खड़े-खड़े। यह सार परिक्रमा लेटे-लेटे करनी होती है। मूर्ति जिस चबूतरे पर प्रतिष्ठित है वह कोई ज्यादह लम्बा या चौड़ा चबूतरा नहीं है। उसकी लम्बाई और चौड़ाई अधिकाधिक दस-दस फुट होगी। अगुआ एक-एक यात्री का नाम पुकारता है और वह यात्री अपने शरण भाई को आगे करके मूर्ति के चरणों की तरफ जाकर शरण भाई के पीछे खड़ा हो जाता है। अगुआ कुछ मन्त्र बोलता है और शरण भाई लेट जाता है। लेटे-लेटे ही वह गर्भ में प्रवेश करता है। उसके पीछे तत्काल यात्री भी लेटकर गर्भ में प्रविष्ट हो जाता है। भीतर जलने वाली मद्धिम लौ का हल्का-हल्का प्रकाश और गर्भ के मोड़ों पर विचित्र-सा अँधेरा। कुल मिलाकर आँखें मुँद जाती हैं और गर्भ की दीवारों को हाथों से टटोलते हुए शरण भाई के पीछे यात्री को यह परिक्रमा पूरी करनी होती है। जब तक दोनों यात्री बाहर नहीं निकलते तब तक दूसरा शरण भाई अपने यात्री को पीछे लिए प्रतीक्षा में खड़ा रहता है। अगुआ मन्त्र बोलता रहता है। बाहर प्रतीक्षारत यात्री या तो गीत गाते रहते हैं या फिर सन्नाटा छा जाता है। सब अपनी-अपनी बारी की प्रतीक्षा करते हैं।

'ज्यों ही शरण भाई गर्भ से बाहर आता है वह जाकर सीधा उस मुसलमान पुजारिन की गोद में सो जाता है। पुजारिन अपने साथ एक विशेष प्रकार का पेय तैयार लाती है। इसे गुड़ला कहते हैं। गुड़ला वह पेय होता है जो पैदा होते ही दाई बच्चे को पिलाती है, जिसे हम घुट्टी कह सकते हैं। इसका स्वाद तीखा और विचित्र-सा होता है। हर यात्री को पुजारिन की गोद में लेटकर गुड़ला पीना होता है। गुड़ला पिलाकर पुजारिन यात्री को गोद से खड़ा करके आशीर्वाद देती है। यह सारी प्रक्रिया गुसाई पंथ में पुनर्जन्म की प्रक्रिया मानी जाती है। मूर्ति के आसपास गर्भ-परिक्रमा को माँ के गर्भ का प्रतीक माना जाता है। उस गर्भ-गुफा में यात्री को जो पीड़ा होती है और जिस प्रकार दम घुटता है उसका वर्णन तो मैं कर ही नहीं सकता। यदि इस परिक्रमा का आधार धार्मिक, अध्यात्मिक न हो तो कुबेर का खजाना लेने के मोल भी कोई उसमें प्रवेश नहीं करे। हालाँकि आज तक उस गर्भ में एक भी यात्री के मरने का समाचार नहीं सुना पर फिर भी पहली ही साँस पर लगता है कि अब जीवित बाहर नहीं

निकला जा सकेगा। शरण भाईं की साँसों और हिंगलाज माता के दर्शन का सहारा ही यात्री का गर्भ-पाथेय होता है। पुजारिन माता की घुट्टी में जड़ी-बूटियों का जीवनदाता पानी होता है। उसको पीकर यात्री अपने आपको कृतार्थ और अपनी यात्रा को सफल मानते हैं।

जब यात्रीगण यह परिक्रमा पूरी कर लेते हैं तब अगुआ हिंगलाज माता के मन्दिर की एक दीवार पर बैठ जाता है और एक नया नारा लगाता है। यह नया नारा यात्रा की समाप्ति और दल के वापस लौटने का सूचक होता है। वहीं बैठे-बैठे अगुआ सब यात्रियों को तोड़े पहनाता है। तोड़े का मतलब है माला। एक तोड़ा एक-एक हज़ार मणियों का होता है। ये मणियाँ काफी छोटी-छोटी होती हैं। अगुआ कराँची से ही मालाएँ साथ लेकर चलता है। एक-एक माला यात्री के गले में डाल देने के बाद वह पचास-पचास मणियों की एक-एक छोटी माला हर यात्री को देता है। ये छोटी मालाएँ प्रत्येक यात्री वहाँ पर फली-फूली कनेर को पहना देता है। कनेर को वह माला पहनाते ही सब कनेर उस यात्री की बहन मान ली जाती हैं। यात्री को वहाँ यह व्रत लेना पड़ता है और घोषणा करनी होती है कि वह आजीवन कनेर का फूल नहीं तोड़ेगा, न कनेर को वह सतायेगा। जो छड़ी अगुआ कराँची से लेकर चलता है, वह यहाँ रोप दी जाती है। इस प्रकार इस यात्रा में गुरु, शरण-भाई के नाम पर भाई और घुट्टी पिलानेवाली माता तथा बहन के रूप में कनेर - यात्री को सब-कुछ प्राप्त हो जाता है। एक नया परिवार उसका बन जाता है और उसका जन्म सफल मानकर गर्भ-गुफा से अवतरित होने के पश्चात् उसका दूसरा जन्म शुरु माना जाता है। ये रिश्ते और मान्यताएँ यात्रीगण आजीवन पालते हैं। हिंगलाज माता के मन्दिर पर न तो खाना बनाया जा सकता है, न चूल्हा-चौका होता है। वहाँ पानी भी नहीं पिया जा सकता है। कनेर को भी बहन बनाने के बाद उसी अगुआ की अगुआई में यात्रा का दूसरा चरण शुरु होता है। यह वापसी भी बड़ी विचित्र होती है। जिस रास्ते से यात्री मन्दिर पर आते हैं उसी रास्ते से वापस लौटना मना है। उधर से वापस नहीं जा सकते हैं। हम सबने अपनी इष्टदेवी को याद किया, अगुआ बालभारती ने अपने धामिक मन्त्रों का पाठ किया तथा हमारा दल हिंगलाज माता को पीठ देकर यात्रा के दूसरे चरण के लिए लौट पड़ा। मुझमें एक अपूर्व ताजगी थी और अपना लक्ष्य प्राप्त कर लेने की किशोर-सुलभ विजय-भावना भी। मुझे लगता था कि मेरा मानसिक कद बढ़ गया है। एक अजानी प्रौढ़ता मुझे अपने आप में विराजती लगी। मुझे लगा कि अब मैं निरा बच्चा नहीं हूँ और पंथ के प्रति मेरी कुछ जिम्मेदारियाँ हैं। यह प्रौढ़ता मुझे मानसिक रूप से कसती जा रही थी, पर इसके विपरीत मेरे शरीर पर आती हुई जवानी के पहले ज्वार ने मेरे अंग-अंग को गुलाबी पोत दिया था। आप देख रहे हैं कि मेरा कद ठिगना है पर मुझे लगा कि मैं कुछ गोलाई ले रहा हूँ। बदन की माँसपेशियाँ अधिक कसीली हो गयी हैं। भूगोल के विभिन्न पहलुओं ने मुझे प्रबल शक्ति दी है और ये पहाड़, नदियाँ और रेगिस्तान मेरे लिए पौष्टिक प्राश सिद्ध होते जा रहे हैं। पाँवों में वेग आ गया था। मुँह पर मूँछें मसमसाकर फूट आई थीं। दाढ़ी का दबदबा सहयात्रियों पर पड़ने लगा था। चेचक के दाग भर-से गए थे और मेरी नजर में ललाई की

रंगत मुझे खुद को ज्यादा लगती थी। धरती, आसमान और समन्दर, इन सबने मिलकर भरपूर नमक मेरे बदन पर मसल दिया था। बार-बार मैं अपने भगवा कपड़ों को देखता था और गले में पड़ी रुद्राक्ष की माला तथा गुरु का दिया हजार-मणियों का तोड़ा रह-रहकर मेरी उँगलियों में खेलने लग जाते थे। न मैं अनमना था, न वाचाल। एक स्थान पर अधिक समय तक रहना अब मेरे शरीर ने मना जैसा कर दिया था। मैं चाहता था कि मैं सिर्फ चलता रहूँ, चलता रहूँ, वहाँ तक चलता रहूँ जहाँ तक कि मैं थककर चूर नहीं हो जाऊँ और हर तरह की थकानें अब मुझसे थक गयी लगती थीं।

'हिंगलाज माता की जय के साथ हमारे पाँव वापस कराँची के लिए उठे। हिन्दूकुश पर्वत की नयनाभिराम श्रेणियों पर अब हम विपरीत दिशा की ओर चले। यहाँ से हमें फारस की सीमा पर जाना था। हिंगलाज माता वाला पहाड़ बलूचिस्तान की सीमा में है और तब भारत में था। फारस तब भी भारत से अलग देश था और आज भी अलग है। एक तरह से यह मेरी पहली विदेश-यात्रा थी, यह मान लें तो भी मुझे कोई आपत्ति नहीं है। न किसी के पास पासपोर्ट, न कोई रोक-टोक। उधरवाले भी सब जानते थे कि हम यात्री हैं और हिंगलाज का हर यात्री, यह यात्रा इसी प्रकार करने को विवश है।'

9- अहिन्दू देश में पौराणिक स्थान, अनिच्छुक वापसी ने करवा दी कच्छ की पद-यात्रा

दादा की बातों से अब साफ लगता था कि कच्छ की पैदल यात्रा का हिस्सा आगे है। हम सबने चाहा कि दादा जरा-सा विश्राम ले लें ताकि उनकी बातों में जरा ताजगी आ जाये। पर दादा थे कि अविराम कहे चले जा रहे थे। बीच-बीच में दादा विभोर होते थे, रोमांचित होते थे और पुरानी यादों में खो-से जाते थे। पर वे आज एक अफसर हैं और हम सब उनके सामने कच्ची उम्र के लोग बैठे थे। सो वे अपने मनोभावों को छिपाते हुए भी रंगे हाथों पकड़े जा रहे थे। अपनी घनी भौंहो को वे जब सहलाते तो मैं समझ जाता कि दादा अब फिर एक ताजगी लेकर बात आगे बढ़ा देंगे। हुआ भी यही। वे फिर आगे बढ़े -

'जिस पहाड़ पर हम चल रहे थेए वह एक प्रकार का पठार है। इसे आप अंग्रेजी जानने वाले 'टेबल लैण्ड' भी कह सकते हैं। हिंगलाज यात्रियों के लिए यहाँ कई महत्वपूर्ण दर्शनीय स्थान थे, जैसे नानक चबूतरा, कबीर स्थानकए पाण्डवों की गुफाएँ आदि। उस जमाने में एक अहिन्दू देश में पहली बार मुझे अपने पौराणिक और सांस्कृतिक नामों के आधार पर बने हुए स्थान देखकर रोमांच हो आया। मैं तो यह सोच भी नहीं सकता था, न मैं भूगोल जानता था, न इतिहास। लोकगीत ही मेरे गुरु थे और मेरी लाइब्रेरी भी तब तक केवल लोकगीत और

रमते साधु-सन्त थे। उन्होंने कभी मुझे यह ज्ञान नहीं कराया था। पर जब बालभारती ने एक कुशल गाइड की तरह हमको बताया कि अब हम भारतवर्ष की सीमा से बाहर हैं तो मैं सिहर गया। यह सिहरन आनन्द और हर्ष की थी। इस स्थान को देखते हुए हमें अलीलकुण्ड जाना था। अलील का शाब्दिक मतलब होता है पवित्र, यह मुझे तब बताया गया था। पवित्र कुण्ड को पवित्र नहीं कहकर अलील कहा जाता था, इसका मतलब मुझे ऐसा समझ पड़ा कि हो न हो यह उधर की भाषा का प्रभाव है। इस अलीलकुण्ड में से ही वह नाला निकलता है जिसके किनारे हिंगलाज माता और काली मैया का स्थान है।

यह नाला आगे जाकर पहाड़ों में न जाने कहाँ खो जाता है। इस अलीलकुण्ड में अगुआ छड़ी को स्नान कराता है। छड़ी-स्नान का समारोह भी पूर्णरूपेण धार्मिक होता है। अगुआ के मन्त्र और यात्रियों के समवेत धार्मिक गीत, पंथ के महापुरुषों के जयकारे और हिंगलाज माता के जयनाद के बीच यह रस्म धूम-धाम से सम्पन्न होती है।

'अलीलकुण्ड का निर्माण प्रकृति ने कुशल कारीगर की तरह किया है। वास्तव में प्रकृति से अधिक कुशल न तो कोई कारीगर है न चितेरा। पठार की कड़ी और ठोस कड़ी चट्टान की छाती के बीचों.बीच एक गहराए चौकोर गड्ढा है। पानी से लबालब इस कुण्ड के बीचों.बीच एक चट्टान, पानी में जमीन की सतह पर दिखाई पड़ती है। पानी कंचन की तरह साफ और चमकीला है। धरातल का कण-कण दिखाई पड़ता है। पानी बहुत मीठा और शीतल है पर हिंगोल नदी के पानी जैसा नहीं है। यात्री इस चट्टान के भी दर्शन करते हैं। ऐसा कहा जाता है कि यह विशाल शिवलिंग है जो कि जल समाधि लिए हुए है।

'अलीलकुण्ड वाले इस 'टेबल लेण्ड' पर घूमकर यात्री वापस हिंगोल के किनारे उसी पड़ाव पर आ जाते हैं। यहाँ ऊँटों का काफिला यात्रियों की पहले ही प्रतीक्षा करता मिलता है। यहाँ से रवाना होकर यात्रीदल गेंडा बाबा और कपिल मुनी के आश्रम पर होकर कराची के लिए चल पड़ता है। हमने भी यही किया। सब यात्रियों को अपने-अपने निवास स्थानों पर पहुँचने की जल्दी होती है। पर मैं चाहता था कि यह यात्रा अधिकाधिक लम्बी हो। लेकिन कितना भी चाहो, चाहने से क्या होता है! इस सारी यात्रा का अपना एक विधान है और हिंगलाज माता से वापस कराची जाने तक 16 दिन में यात्रा पूरी होनी चाहिए, नहीं तो अगुआई और यात्रियों

की अध्यात्मिक उपलब्धि समाप्त मानी जाती है। हमारा दल भी ठीक 16 दिनों में वापस कराची आ गया। सभी सानन्द और सकुशल लौटे। न कोई बीमार पड़ा न थका। सब के सब ताजा और तन्दुरुस्त।

'कराची आकर अखाड़े में हाजरी देनी होती है। अगुआ ने हम सबकी हाजरी दी। अब यात्री वापस अपने घरों को जाने के लिए स्वतन्त्र हो जाते हैं। महन्त की एक चिट्ठी उनको रखनी जरूरी होती है। इस चिट्ठी पर महन्त के हस्ताक्षर और अखाड़े की सील-मुहर लगी होती है। यह चिट्ठी रास्ते में पासपोर्ट का काम देती है। जहाँ यात्री को कोई रुकावट आती है, यह चिट्ठी शाही फरमान की तरह उसका रास्ता सुगम बना देती है।

'नियमानुसार मुझे भी अगुआ की सिफारिश पर रामगिरिजी ने एक चिट्ठी दे दी। चिट्ठी मिलते ही यात्री मानसिक रूप से घर लौटने को तैयार और तत्पर हो जाता है। पर मेरा तो मामला ही दूसरा था। मैं तो घर जाना ही नहीं चाहता था। घर की यातनाओं से तो मैं चला था! अब मेरे मानस में मन्थन उठा - 'मुझे कहाँ जाना चाहिए' 'मैं घर क्यों जाऊँ' अनेकानेक सवाल मेरे दिमाग में बगूले की तरह उठते थे और धूसरित होते थे। बहरहाल, अखाड़े के नियमानुसार मुझे अखाड़ा छोड़ना था। मैंने रामगिरि स्वामी तथा बालभारती के पाँव छूकर कल्याण आशीष ली और अपनी झोली-झण्डा वहाँ से उठा लिया।

'पैसा मेरे पास एक भी नहीं था। कराची से बिना टिकिट ही मैं रेल में सवार हुआ और जुंगशाही नामक स्टेशन पर आया। यहाँ रेल की लाइन पूरब.पश्चिम है। मुझे दक्षिण में आना आना था। सो मैंने रेल-यात्रा छोड़ी और वापस पैदल ही चला। कराँची में मैं रामगिरि के अखाड़े में कम से कम दो-ढाई माहए और रुक चुका था । मन मेरा घर आने का था नहीं और रामगिरिजी का मुझ पर अपार स्नेह था, सो कई लोगों की ईर्ष्या मोल लेकर भी मैं वहाँ मुकाम करने में सफल हो ही गया था। फिर भी अखाड़ा छोड़कर निकलना तो पड़ा ही और इस विछोह का असर मेरे मन पर अधिकाधिक पड़ा। मन बार-बार कराची की ओर उड़ता था पर गुरु आज्ञा के कारण टूटे मन से मैंने पैदल ही दक्षिण दिशा का छोर पकड़ा।

'चलते-चलते मैं सिन्ध नदी के किनारे आ गया। मुझे याद है, सुजावल नाम का कस्बा रास्ते में आता था। सुजावल से यात्रियों को नावें और बोटें सुलभ थीं। ये नावें और बोटें धर्मादे की भी चलती थीं और किराया देने वालों को पैसे से भी उपलब्ध थीं। मैं साधुवेश में ही था और भीख माँग-माँगकर ही अपना काम चला रहा था। सो मैंने धरम नाव में आसन जमाया और नदी पार करके मैं आशापुरी आ गया। आशापुरी में स्नान के लिए कुण्ड और विश्राम के लिए मठ की व्यवस्था थी। मठ में जाकर वहाँ के महन्त को कराँची की चिट्ठी बतानी होती है। महन्त उस चिट्ठी को देखकर उस पर परवाने के लिए अपने दस्तखत करता था। यदि ये दस्तखत नहीं किए जाते थे तो आगे की यात्रा सुविधाओं के लिहाज से दूभर हो जाती है। मैंने ये दस्तखत प्राप्त किये और आगे चला। मैं अकेला था और मैं हर सम्भव यत्न कर रहा था कि मेरी यात्रा अधिकाधिक लम्बी हो। इसी भावना ने मुझसे कच्छ का रन पैदल पार करवा दिया।'

10 - न रन की भयावहता का पता न संकटों का अनुमान, माता का जैकारा लगा, शुरु कर दी पद-यात्रा, जाना पानी का मोल

'आशापुरी से दो-तीन मील आगे पैदल चलने पर मकरभीम स्थान आता है। मकरभीम से ही कच्छ का रन शुरु होता है। इने-गिने आदमी ऐसे होते हैं जो कि यहाँ से इस रन को पैदल पार करने की हिम्मत करते हैं। मकरभीम से कच्छ पार करने वालों को भुज की तरफ लखपत नामक स्थान पर पैदल आना पड़ता है। यह दूरी कम-से-कम 36 मील है। मुझे न तो कच्छ की भयावहता का पता था, न उस यात्रा में आने वाले संकटों का अन्दाज। मुझे तो पैदल चलना था और अधिकाधिक देरी तक भटकना था। सो, मैंने मकरभीम पर उस स्थान पर जाकर अपना चोला खड़ा कर दिया जहाँ पैदल पार करने वालों को सुविधाएँ दी जाती हैं।

जब मैं उन अधिकारियों के सामने खड़ा हुआ तो वे मुझे सिर से पाँव तक देखते ही रह गए। मेरी कच्ची उम्र और कच्छ का 36 मील का जानलेवा लू में तपता नमकीन मैदान! इस तुलना ने वहाँ के अधिकारियों को असमंजस में डाल दिया। वे मुझे बार-बार समझाते थे और मैं अपनी जिद पर दृढ़ था। जब बाधाएँ आती हैं तो मेरी जीवट भी जवान हो जाती है। मैंने सोच लिया कि इस अभियान को साकार करना ही चाहिए। मैंने अपनी हिंगलाज माता की विकराल यात्राओं का अनुभव उनको सुनाया और उनका समाधान किया कि मैं कच्छ को पार पटक जाऊँगा। वे तो बस अनुमति भर दे दें। कुछ आपसी खुसुर-पुसुर के बाद आखिर मुझे अनुमति मिल गई। एक बार फिर मेरी आँखें विजयोल्लास से चमक उठीं और मुझे अहसास हुआ कि मैं अपनी उम्र का एक और ठप्पा समय की छाती पर लगा दूँगा।'

अब हम सब अपनी-अपनी कुर्सियों पर सरक, आगे तन आये थे। दादा की यात्रा का रोमांचकारी सोपान शुरु हो रहा था। दादा बोले-

'मकरभीम पर पैदल निकलने वाले यात्रियों को पानी पीने के लिए मिट्टी का बत्तखनुमा एक बर्तन दिया जाता है, जिसे वहाँ तूंग कहते थे। अपने यहाँ इसे तोंग या बदक कहते हैं। इस बर्तन में कोई 10-15 सेर पानी समा जाता है। यह पानी पदयात्री को साथ लेकर चलना होता है। ऐसे बर्तन वहाँ मोल भी मिलते थे पर गेरुआ पहने सन्यासियों को मुफ्त वितरित होते थे। तीन-चार लोगों का एक पेनल या बोर्ड उस यात्री को रास्ते की कठिनाइयाँ बताता है और किस समय यात्रा करनी और कहाँ-कहाँ मुकाम करना यह सब बताता है। यदि इस समझाइश को यात्री गम्भीरता से नहीं ले तो इसमें कोई शक नहीं कि रन में कहीं किसी क्षण यात्री का प्राणान्त हो जाए। उसकी लाश खाने के लिए वहाँ गिद्ध भी एकाएक नहीं आ पाते हैं। नमक और बालू में वह लाश अपनी भाग्य-गति के अनुसार रफा-दफा होती है। आज तो कच्छ के रन में जीपें चलने के फोटू आप-हम अखबार में देखते हैं और भारत की सुरक्षा टुकड़ियों ने रन में रास्ते भी बना लिये हैं। पर तब ऐसी कोई बात नहीं थी। भारत अविभाजित था और कच्छ की तरफ से देश को किसी खतरे की तत्कालीन अंग्रेज सरकार सोचती भी न थी। इसलिए रास्तों का प्रश्न ही नहीं था।

कच्छ का रन लम्बाई में 1100 मील है और जिस जगह मैं पार कर रहा था यह कुल 36 मील का टुकड़ा था, पर मीलों की कमी या बेशी से यात्रा की समस्याएँ और भयावहता कम नहीं हो जातीं है। ज्यों-ज्यों अधिकारीगण उस भयावहता का वर्णन करते थे त्यों-त्यों मैं अपने संकल्प पर दृढ़ होता जाता था। मेरा देहाती शरीर, अपढ़ अनुभव और कच्ची उम्र या यूँ कहिये कि मेरा गँवार तन-मन इस बात के लिए सन्नद्ध हो गया था कि 'चल पड़ पट्ठे'। कन्धे पर पानी की तोंग, चादर और कमण्डल लटकाये मैंने हिंगलाज माता की जय बोली। अधिकारियों ने मुझे रास्ते के लिए थोड़ा-सा पिण्ड खजूर और भुने हुए दानामोठ दिये। यह पदयात्रियों का पाथेय था। इस बात की सख्त हिदायत थी कि प्यास लगने पर भरपेट पानी कहीं मैं पी न लूँ। हलक को गीला भर करना और पिण्ड खजूर या दानामोठ को मुँह में इसलिए रखना था कि मुँह सूखा नहीं लगे। पानी की तोंग का आकार सुराही जैसा था पर यह चपटी होती थी। इसके चपटी होने से यह बगल में आ जाती थी। यात्री की सुविधा के लिए इसको यह आकार दिया गया था।

यह तो मुझे याद नहीं पड़ता कि वह कौन-सा महीना था पर जहाँ तक मेरा अनुमान है कि वह सन् 1932 का अक्टूबर रहा होगा। कराँची जब मैंने छोड़ी तो सर्दियाँ शुरु हो गई थीं। पदयात्रियों को बड़ी सुबह या शाम के बाद ही रन में प्रवेश करने की आज्ञा दी जाती है। सवेरे, दस बजते-बजते वहाँ भीषण लू चलने लगती है और शाम होने के बाद भी लू चलती

है। रात हो या दिन, वहाँ गर्मी में कोई ज्यादा फर्क नहीं पड़ता है। कच्छ रन की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि चाहे चाँदनी रात हो या अँधेरी रात, रन के मैदान में कभी अँधेरा नहीं हो पाता है। इसका कारण यह है कि जमीन पर महीन बालू रेत और उसमें भर-पल्ले नमक का मिश्रण है। रात में चाँद हो या नहीं हो, तारों की रोशनी ही इतनी उजली होती है कि मीलों तक नजर काम करती है। मुझे यह भी याद नहीं आ रहा कि तब आसमान में चाँद था या नहीं। जमीन छोड़कर आसमान देखने का मतलब है वहाँ एक जोखिम उठाना। सारे कच्छ के मैदान में, इस 36 मील के रास्ते पर मार्ग जानने के लिए कोई एक-एक मील पर बड़ी-बड़ी बल्लियाँ गड़ी हुई थीं। रात में भी मुझे चार-पाँच मील तक की बल्लियाँ साफ दिखाई पड़ती थीं। यदि ये बल्लियाँ नहीं हों तो संसार की कोई शक्ति यात्री को रास्ता नहीं बता सकती। मैं आज तक नहीं समझ पाया कि ये बल्लियाँ जिसने सबसे पहली-पहली बार गाड़ी होंगी वह कितनी जीवट वाला आदमी रहा होगा! हो सकता है कि यह सरकार का प्रबन्ध रहा हो। पर मैं इस व्यवस्था को देख-देख कर हैरान था।

अरब सागर का पानी शाम के आस-पास से चढ़ना शुरु हो जाता है और कभी-कभी यह इस रन में पाँच-पाँच, सात-सात और गाहे-ब-गाहे दस-दस फुट भी चढ़ जाता है। आदमी डूब जाए इतना पानी भी चढ़ता है और रात ढलते-ढलते यह पानी अपने-आप उतर भी जाता है। नमक और रेत पर जब यह पानी फिर जाता है तो पाँव-पैदल चलना इतना कठिन हो जाता है कि कहा नहीं जा सकता है। पग-पग पर पाँव फिसलने का डर रहता है। और पाँव फिसलने पर यदि कोई यात्री गिर गया और दुर्भाग्य से पानी की तोंग फूट गई तो फिर वह जीवित निकल आएगा इसकी कोई सम्भावना नहीं है। पानी-पानी चिल्ला कर उसका प्राण वहीं निकल जाएगा। न वहाँ कोई सुनने वाला है, न पुरसाने हाल। यदा-कदा ऊँटों पर भी इधर से रन पार करने के लिए लोग निकल पड़ते हैं पर वे भी अकेला ऊँट लेकर नहीं चलते। यात्रियों की प्रतीक्षा में कई-कई दिनों तक ऊँटवालों को ठहरना होता है। एक तकलीफ यह भी है कि यदि कहीं रास्ते में पाँव फिसल जाने से ऊँट गिर गया तो उसको खड़ा करना ही सबसे बड़ी समस्या हो जाती है। कहीं-कहीं रन में ऊँटों के पंजर भी देखने को मिल जाते हैं। नमक के कारण वहाँ लाश धीरे-धीरे गलती है और ऐसे पंजर यात्रा को और भी अधिक भयावना बना देते हैं। एक बार मकरभीम आँख से ओझल हुआ कि फिर यात्री को सहायता की सभी सम्भावनाएँ समाप्त समझनी चाहिए। वह बुद्धिमानी से वापस लौट जाये तो बात अलग है।

रन में जितनी नमकीन और दीप्तिमयी चाँदनी होती है, दिन उतना ही विकराल और साँय-साँय करता होता है। मृगतृष्णा कहीं-कहीं तो अगले पग-पर ही दिखाई पड़ती है और कहीं सौ-पचास गज पर। पानी के अभाव में चाहे दिन हो या रात, अगर यात्री मृगतृष्णा के भ्रम में फँस गया और उसने मार्ग-संकेत छोड़ दिए तो फिर उसको मरने से कौन बचायेगा? भगवान के सिवाय कोई सहारा नहीं है। आसमान की तरफ देखना हो तो ठहरकर देखना होता है। चलते-चलते देखने पर गिरने का पूरा खतरा है। सड़क के मीलों की तुलना में ये मील इतने

लम्बे और खाऊ लगते हैं कि मैं आपको बता नहीं सकता। न आसपास मील के पत्थर, न कोई झाड़ या झाड़ी। और फिर हवा की लपटें! दिन भर का तपा-तपाया रन, रात को भी गरम रहता है। पग-पग पर गला सूखता है और पानी की तोंग पर आदमी की पकड़ अपने आप मजबूत होती जाती है। तोंग के मुँह में एक नली सी लगी रहती है जो बगल की तरफ से होकर मुँह तक आ जाती है। जहाँ गला सूखा कि उस नली को मुँह में लेकर एकाध घूँट पानी खींच लो। यह भी पता नहीं चल पाता है कि तोंग में पानी कितना बचा है। दस-पाँच पग चलने पर ही मन करता है कि तोंग का मुँह खोलकर पानी देख लो। पानी उस समय आदमी के लिए कुबेर की सम्पत्ति से भी अधिक मँहगा हो जाता है।'

11 - जूतों की तलाश, मांस के लोथड़े निकल आए, टखनों तक सूजन, घुटनों तक जलन, चुड़ैलें बनतीं सूरज की किरणें

हम लोग दादा को अवाक् होकर सुन रहे थे। हमारे 'हाँ-हाँ' हुँकारे के बोल भी बन्द हो गए थे। दादा कहने लगे-

'मैंने मकरभीम से हिंगलाज माता की जय बोलकर पहला कदम कच्छ की बालू पर रखा। पीछे मुड़कर नहीं देखने का मन ही मन मेरा संकल्प था और मैंने बस आगे देखकर यात्रा शुरु की। यह प्रभात का पहला पहर था। पहला अनुभव जो मुझे हुआ वह यह था कि व्यर्थ ही इन निकम्मों ने कच्छ को भयावना और प्राणलेवा बता-बताकर इस देश की पावन धरती का अपमान किया है। तारों की रोशनी में धरती चम-चम चमक रही थी। सामान मेरे पास कोई ज्यादा नहीं था पर आखिर था तो सही! ज्यों ही पौ फटी और सूरज की पहली किरण ने मुझे चुम्बन दिया, मुझे लगा कि कहीं कुछ हल्की-हल्की आग सी लग रही है। सूरज की ललाई ने, जहाँ-जहाँ तक नजर जाए वहाँ-वहाँ तक मेंहदी लीप दी थी। पहले हल्का गुलाबी, फिर गहरा गुलाबी और एकाएक लाल सुर्ख होता हुआ सूरज का गोला भभूके की तरह उछलकर सफेद हो गया। मुझे हिदायत थी कि मैं दस बजते-बजते कोई दस मील दूर एक पड़ाव पर पहुँच जाऊँ। मेरे पास पाथेय के नाम पर पिण्ड खजूर और दानामोठ थे और पीने का पानी था ही। पर ज्योंही सूरज की किरणों ने कुदरत से चाँदी उधार ली कि कच्छ का मौसम मेरे लिए चुनौती बन गया। मैं कोई चार ही मील चला होऊँगा कि धरती काटने लगी

और जोड़ों में पसीना बह आया। तालू सूखने लगा और शरीर नरम हो गया। सूरज की हर किरण डायन बन गई थी। हवा में गरमी और पाँव में चटके शुरु हो गए। जब मैंने अपने पाँवों को देखा तो मुझे अनायास झटका-सा लगा। मैंने देखा कि मेरे पाँवों में जूते नहीं हैं। एक क्षण को मैं ठिठका और फिर अपने आप मेरी हँसी चल गई। जूते पाँव में पहनने का भाग्य मेरा था ही कहाँ? आज तक जूते तो मेरे सिर पर पड़ते आये थे! माँ, पिता या भाई जो भी पीटते थे उनके हाथ में कभी जूता पड़ जाता तो पीठ या माथे पर। जिस चीज का रिश्ता सिर से रहा हो वह भला पाँव में कैसे आ सकती है? जमीन गरम होती जा रही थी और खड़ा रहना समय को बरबाद करना था। मैंने पहला घूँट पानी का लिया और मैं फिर चल पड़ा। कोई ग्यारह बजे तक मैं थकान से त्रस्त होकर उस पड़ाव पर आ गया जिसके लिए मुझे हिदायत दी गई थी। यहाँ आते-आते पानी की तोंग तीन चौथाई मैं पी चुका था।

'पड़ाव पर एक प्रबन्धक रहा करता था। उसने दूर से ही मुझे देखा तो वह जोर-जोर से आवाजें देने लगा। मुझे मानव की वाणी सुनकर अपार सुख मिला। मैंने सोचा कि जो जन्म मैंने हिंगलाज माता के यहाँ दूसरी बार लिया है उसका एक दिन बच गया। मौत का डर मुझे कभी लगा नहीं। आज भी मैं मरने से नहीं डरता हूँ पर जीवन के प्रति उस दिन मुझे मीठा मोह पैदा हुआ और मैंने सोचा कि मेरे लिए जीना जरूरी है। मैं मरना नहीं चाहता था।

'पड़ाव पर जाते ही मैंने तोंग धरती पर रखी और मैं चिलचिलाती धूप में खुली धरती पर लेट गया। प्रबन्धक ने मुझे पानी पिलाया और ढाढस देकर सहलाया, पुचकारा, बैठा दिया और रास्ते के समाचार पूछे। मेरी आँखों में अविरल आँसू थे और मैं जीने के लिए छटपटा रहा था। मेरी उम्र का यह सत्रहवाँ वर्ष था और मुझे लग रहा था कि अब मैं नहीं जी सकूँगा। गले में काँटे निकल आये थे। ऐसा लगता था कि पानी को पीता ही जाऊँ।

'सारी दोपहरी मैंने वहीं काटी। जो कुछ मेरे पास खाने को था वह थोड़ा-सा मैंने खाया और तोंग का बचा हुआ पानी पीकर प्रबन्धक से बतियाता रहा। प्रबन्धक बड़ा भला आदमी था। उसने मुझे बहुत ही मानवीय व्यवहार दिया। मैंने चाहा कि वह मेरे लिए जूतों की व्यवस्था कर दे पर उसके पास कोई साधन था नहीं। उसने मुझे बहुत हिम्मत दी और आगे के सफर की कठिनाइयाँ बताकर कहा कि मुझे अपनी यात्रा शाम चार बजे से फिर शुरु कर देनी

चाहिए। यदि मैं आराम के चक्कर में फँस गया तो इस पड़ाव से आगे जाना मेरे लिए कभी भी सम्भव नहीं होगा। अपनी भाषा में उसने 'मन के हारे हार है, मन के जीते जीत' वाली बात बताई। उस उम्र में मैंने इस कहावत से बहुत प्रेरणा ली। यहाँ मुझे फिर माँगीलाल याद आया। मेरा अन्धा साथी याद आया। आज मुझे लगा कि माँगीलाल कितना भाग्यशाली है जो यहाँ की मुसीबत से बच गया। अन्धे को भगवान ने अन्धा बनाकर उस पर कितना करम किया है!

'दोपहर की एक गहरी नींद ने मुझे फिर ताजगी दी। मैं पानी पीकर कुछ पिण्ड खजूर और दानामोठ खाकर फिर पानी पीया। अब मैंने अपनी और से प्रबन्धक से सवाल किए।

'प्रबन्धक ने बताया कि आगे पानी की चिन्ता मैंने नहीं करनी चाहिए। इस पड़ाव पर चाहे जितना पानी मिल जाएगा। वहाँ पर पानी मोल भी मिलता था और धर्मादे का भी। साधुओं को यहाँ पानी बिना पैसों के ही मिलेगा। मुझे उसने नहीं बताया कि वहाँ पानी कहाँ से आता था। मेरा अनुमान रहा है कि मकरभीम से या और कहीं से वहाँ ऊँटों द्वारा पानी आता रहा होगा। न वहाँ बस्ती, न कोई पंछी। एक पक्का मकान मात्र बना हुआ था जिसमें प्रबन्धक रहा करता था और पानी का स्टॉक रखा रहता था।

'शाम चार बजे के करीब मैंने अपनी तोंग फिर से भरी। मुझे पानी का पैसा नहीं देना पड़ा। मैं साधु जो था। पूरे 26 मील की यात्रा बाकी थी। मुझे लखपत नामक स्थान पर आना था। समय के नाम पर मेरे पास दूसरे दिन सबेरे दस बजे तक का समय था। पूरे 18 घण्टे और यात्रा 26 मील की! मैं सिहर गया। पर प्रबन्धक ने कहा कि रात की यात्रा कम तकलीफदेह रहती है। अपने इष्ट का नाम लो और चल पड़ो। यह भी सख्त हिदायत मुझे दी गई थी कि यदि कहीं पानी का हिलोर उठ आए तो जब तक ज्वार उतर नहीं जाये, मैं उसी स्थान पर खड़ा रहूँ जहाँ कि खड़ा था। कुछ भी हाय-तौबा मैंने की तो फिर रास्ते और जिन्दगी की सारी गारण्टी खतम समझो। मार्गदर्शक बल्लियों को मुझे न तो छोड़ना चाहिए न छेड़ना चाहिए। मैंने अपनी बची-खुची हिम्मत बटोरी और हिंगलाज माता की जय बोलकर प्रबन्धक महोदय को नमस्कार करके मैं चल पड़ा।

'कच्छ रन में रात का सफर अपेक्षाकृत कम तकलीफदेह होता है। ज्यों-ज्यों सूरज अरब सागर की बाँहों में जाता है, त्यों-त्यों काया कुछ ठण्डी होती जाती है। इस पड़ाव से दो-चार फर्लांग चलने पर ही धरती गीली शुरु हो जाती है। समन्दर का पानी यहाँ तक ठेप मारता है। कभी कम, कभी ज्यादा पर पानी बराबर बना रहता है। धरातल में नमी बहुत रहती है। कहीं-कहीं तो टखनों से ऊपर तक पानी आता है।

'शाम होते-होते मेरे साथ एक दिक्कत पेश आई। इस तकलीफ ने मुझे असहाय कर दिया। मैंने देखा कि मेरे पाँवों के नीचे और आसपास का चमड़ा नमक, पानी तथा रेत के कारण कटना शुरु हो गया है और नमकीन पानी के सतत सम्पर्क ने उसमें से माँस के लोथड़े निकालने शुरु कर दिये हैं। पाँवों में जलन हो चली थी और मेरे अनुमान से कोई बाईस मील मुझे चलना शेष था। यह सम्भावना साफ थी कि मेरा यह कष्ट यात्रा के साथ-साथ बढ़ेगा ही। कम होने का सवाल ही कहाँ था! इसकी मेरे पास दवाई भी नहीं थी। रुकना तो मौत को निमन्त्रण देना था। चलता था तो कहीं-कहीं पानी के कारण छपाक्-छपाक् आवाज आती थी। इसके सिवाय मुझे कच्छ रन की इस पूरी यात्रा में कहीं एक पंछी का स्वर भी नहीं सुनाई दिया। साथी-संगाती तो सपने की बातें हो गये थे। न कुछ दिखाई पड़ता था, न कुछ सुनाई देता था। एक सन्नाटा....मीलों लम्बा सन्नाटा। अपने आपको भाग्य के भरोसे छोड़ने के सिवाय मैं कर भी क्या सकता था? सारी रात चला, रात में प्यास मुझे कम ही लगी। वीरानों और सन्नाटों का भी अपना एक सौन्दर्य होता है, यह मुझे उस दिन मालूम पड़ा। रात के उजाले में मैं कम से कम चार-चार बल्लियाँ देख रहा था। अब मैंने उन बल्लियों को ही अपना साथी मान लिया था। प्रत्येक बल्ली के पास जाकर मैं पल-दो पल ठहरता। उससे बात करता। उसको धीरे से सहलाता और कान लगाकर उसको सुनने की चेष्टा करता। मैं चाहता था कि यह बल्ली कुछ बोले और कभी-कभी लगता भी था कि यह कुछ बोलेगी। रात को मृगतृष्णाएँ मुझे सुन्दर लगीं। अब मैंने रन की समस्याओं से खेलना शुरु कर दिया था।

'फिर वैसा ही खूबसूरत सवेरा हुआ। मैं जानता था कि इस सूरज की गोद में चाँदी-सोने के कंगन पहने वे किरणें चली आ रही हैं जो पहले चुम्बन के साथ ही चुड़ैलें बन जाएँगी। पर अब यह मेरी नियति थी और मैं इसके आगे नतमस्तक था। मैंने तोंग का पानी एक बार फिर से देखा। कुल्ला किया। और उस सुनसान वीरान में मस्ती में आकर एक लोकगीत छेड़ दिया। मेरे पाँवों से लहू बह रहा था। माँस के लोथड़े बाहर छिटक रहे थे। जलन घुटनों तक

आ गई थी और टखनों तक सूजन थी। रात में मैंने कहीं-कहीं पिण्डलियों तक पानी में रास्ता काटा था। अब पानी समन्दर की तरफ लौट रहा था। न कहीं पाँवों के निशान थे, न कहीं कोई चिह्न। हाँ, उन बल्लियों के आसपास जड़ों में एक कुण्डल-सा पानी बना-बनाकर पलट रहा था। मैंने हर बल्ली के तल को देखा और उस कुण्डल को नापने का उपक्रम किया। दो बल्लियों से मेरी तोंग टकराई और फिर मैंने यह मजाक छोड़ दिया। कहीं तोंग फूट गई तो जान से हाथ धोना पड़ेगा। सूरज मेरे बाएँ था और मैं बराबर दक्षिण में बढ़ता जा रहा था। गति मेरी जरूर कम हो गई थी पर शरीर ने इस कष्ट को लाचारी में अपना धर्म मान लिया था। मुझे याद है मैं गीत पूरा नहीं गा सका था और मेरे गले में प्यास और जलन के काँटे पड़ गये थे। मैंने एक घूँट पानी और पीया। ठिठककर आसमान देखा। आँखें चौंधिया गईं। पल-भर को गर्दन झटकी और फिर चल पड़ा।

'सूरज की बदतमीजी बढ़ती जा रही थी। मेरी बेचैनी पहला छोर छोड़ चुकी थी। सारी रात का सफर जितना भयावह नहीं था उतना अब शुरु होनेवाला था। मुझे पता भी नहीं था कि मुझे कितना और चलना है। मैंने कहा न कि रेत और सन्नाटों के सिवाय अब मैं सिर्फ सूरज को देख सकता था। पर चूँकि बीते कल, इसी समय करीब छः घण्टों का सफर कर चुका था सो मुझे कष्टों का नया परिचय आज नहीं हुआ। फर्क यही था कि आज की जमीन भी नम और गीली थी। पाँव मेरे बराबर कटते जा रहे थे।

12 .....और जीत लिया कच्छ का रन किन्तु छाप ने जान निकाल दी, पहली बार इतना चूमा माँ ने, खूब ठाठदार दीवाली मनी उस साल

'एकाएक मुझे बहुत दूर हल्के से शोर का आभास हुआ। कान लगाकर मैंने सुना। टोह ली। आसपास देखा, कहीं कुछ नहीं था। करीब-करीब नौ बज आया था सुबह का, पानी पीने की मेरी रफ्तार बढ़ गयी थी। तोंग मुझे हल्की लगी। खड़ा रहा और एक बल्ली के पास जाकर तोंग का मुँह खोला। अभी मेरे पास फिर भी आधी तोंग भरी थी, यानी मैं अपना सफर कोई तीन-चार घण्टे और जारी रख सकता था। समन्दर का पानी बराबर उतार पर था पर एक स्थान पर मैंने कोई आधा फर्लांग तक जाँघों के बराबर पानी में रास्ता तय किया। इससे मुझे बड़ी शान्ति मिली। पानी गरम हो चला था, फिर भी पानी की अपनी एक शीतलता तो होती

ही है। इस यात्रा-बाधा ने मुझे एक बार फिर ताजा कर दिया। मेरे लिए यह किसी पड़ाव से कम नहीं था।

'पाँवों से खून बहना बराबर जारी था। गोश्त के लोथड़े कट-कटकर गिर रहे थे। सारे पाँव फट गए थे। टखनों से ऊपर भी घाव हो गए थे। रेत और नमक के छोटे-छोटे लोंदे यदा-कदा उछलकर उन घावों पर चोट करते थे। ग्यारह के आस-पास का समय रहा होगा और मुझे मृगतृष्णा के एक झोंकें के ओझल होते ही कुछ गतिशील आकार दिखाई दिया। यदि यह भ्रम भी रहा हो तो सुखद था। मैंने एक घूँट पानी फिर पीया और घायल पाँवों को गति दी। कोई साढ़े ग्यारह या पौने बारह बजे के करीब मुझे आखिरी बल्ली दिखाई पड़ी। मेरे हाथ अपने-आप आसमान की तरफ उठ गए और मैंने बीच की तीन बल्लियों को देखते हुए अपने घुटनों पर दोनों हाथ रखे और तोंग को नीचे टिका कर उसे जी भर कर देखा। उसकी नली निकाल कर कमर में खोंसी और खुले ढक्कन से चार-पाँच घूँट पानी एक साथ गटक गया। मुझमें नई हिम्मत आ गई थी। लखपत का इलाका मुझे झिलमिल-झिलमिल दिखाई पड़ रहा था। लोग दिखाई पड़ रहे थे। मेरा लक्ष्य सामने था। शायद ये बल्लियाँ पास-पास थीं। मुझे दो मील से ज्यादा का रास्ता नहीं दिखाई दिया। पर जब मैं चला तो मैंने पाया कि यह दूरी बढती ही जा रही है। अनेकानेक विचार मन में उठते जाते थे और मेरे लहू-लुहान पाँव रूकने का नाम नहीं लेते थे। आवेग और आवेश के मारे मैं कई बार लड़खड़ाया। पर मैं चलता ही रहा। पानी पीने की गति अब मेरी कम हो गई थी। शायद सफलता की भावनाओं ने काया को अनुशासन सिखा दिया था।

'साढ़े बारह बजे तक मैं लखपत आ गया। आखिरी चार-पाँच घूँट पानी मेरी तोंग में रहा होगा। तट पर काम करते नाविकोंं ने दौड़कर मुझे सम्हाला। यह सहायता मेरे लिए अनपेक्षित थी। इस सहायता में सहानुभूति, मानवीयता और अपनापन था। मैंने नमस्कार करने को दोनों हाथ ऊपर उठाए और आँख मूँदकर मैं उनकी बाँहों में समा गया। शरीर मेरा जवाब दे गया था। चाह कर भी मैं खड़ा नहीं हो पा रहा था। मन भर आया था। आँखें पानी में पिघली जा रही थीं। पसीने से लथ-पथ मैं करीब-करीब बेहोश हो गया था।

'वहाँ मैं करीब एक सप्ताह रहा। मेरे पाँवों का इलाज वहाँ के धार्मिक अस्पताल में हुआ। शाम-सवेरे मैं अपने पाँवों पर, वैदजी का दिया हुआ तेल या मरहम लगाता और कच्छ रन की तरफ मुँह करे, खड़ा होकर उसकी विराटता को मुँह चिढ़ाता। बचकाना होकर कभी-कभी उसे अँगूठा दिखाता और बालू-रेत में अपने पाँवों के निशान ढूँढता फिरता। रह-रहकर मुझे रोना आता था। बुखार बराबर बना हुआ था। धीरे-धीरे शरीर ठीक हुआ। मुझे बताया गया कि यह अस्पताल यहाँ कई बरसों से चल रहा है। वहाँ के लोगों और वैद्यजी का व्यवहार बहुत ही ज्यादा मानवीय था। उस समय लखपत में 56 तोले का एक सेर होता था जबकि अपने यहाँ मालवा में 80 तोले का एक सेर था।

'कोई दस दिन के विश्राम के बाद जब मैं स्वस्थ हो गया तो मैंने कच्छ रन को एक बार फिर मुँह चिढ़ाया और अपना कमण्डल, चादर और मुसीबत की संगिनी वह तोंग लेकर मैं चल पड़ा। अन्न-क्षेत्रों में खाना, खाना और अधिकतर पैदल चलना या बिना टिकट रेल से सफर करना, यही मेरा क्रम था।

'लखपत से मैं नारायण कोटेश्वर आया। यहाँ आना जरूरी था। यहाँ महादेवजी का एक मन्दिर है। यहाँ गुसाईं जाति पंथ के कई लोग मुझे मिले। जो भी यात्री हिंगलाज माता की यात्रा करके आते समय कच्छ रन पैदल पार करके आते थे उनको इस मन्दिर में शिवजी की छाप लगानी पड़ती है। मुझसे भी यह छाप लगवाने को कहा गया। मैं समझा कि छाप लगाने का काम साधारण-सा ही होगा। सो, मैंने फौरन हाँ भर ली। महन्तजी गए और अपने हाथ में एक खिलौने-सी चीज लाए। उन्होंने मेरे दाहिने हाथ की कोहनी नंगी करवाई और एक मन्त्र बोलकर वह छाप मेरी कोहनी के नीचे चिपका दी। छाप का लगना था कि मैं उछलकर दो-चार कदम पीछे जा पड़ा। लकड़ी के एक टुकड़े के नीचे, ताँबे की बनी, शिवलिंग की एक मूर्तिनुमा छाप थी। वह ताँबा गरम करके गरम-गरम मेरे दाहिनी हाथ की कोहनी के नीचे, नंगे चमड़े पर चिपका दिया।' यह कहकर दादा ने अपनी दाहिनी कोहिनी आगे बढ़ाई। हमने देखा कि एक बड़ा सा काला दाग वहाँ अभी भी मौजूद है। छाप वाली बात सुनते ही सारे वातावरण की गम्भीरता हँसी में बदल गई। दादा भी हँसने लगे। वे बोले -

'जब तक यह छाप नहीं लगे, कहा जाता है कि हिंगलाज माता की यात्रा का पुण्य पूरा नहीं लगता। और कुछ हो न हो, मैं इस छाप को कच्छ रन की पदयात्रा का प्रमाण-पत्र मानता हूँ। जब मैंने महाराज से पूछा कि जो यात्री हिंगलाज माता की यात्रा करके कच्छ रन पैदल पार किये बिना निकल जाते हैं उनको छाप नहीं लगती? तो उन्होंने इसका बहुत बुरा माना। एक स्थान का नाम उन्होंने बताया जरूर था कि वहाँ ऐसे यात्रियों को छाप लगती है पर वह स्थान मुझे याद नहीं रहा। मैं तो इस छाप को भी कई सप्ताहों तक सहलाता रहा। आज भी जब इस छाप की याद आती है तो मैं काँप उठता हूँ।'

दादा ने अपनी आस्तीन को नीचा किया। बटन लगाकर कलाई सहलाई और कहने लगे -

'नारायण कोटेश्वर से मैं फिर नाव द्वारा माँडवी आया। वहाँ से बेट द्वारिका और बेट द्वारिका से अहमदाबाद, सुदामापुरी तथा राजकोट घूमता-फिरता मैं रेल द्वारा ही रतलाम आ गया। दीपावली की तैयारियाँ चल रही थीं और लोग अपने घरों की सफ़ाई-पुताई कर रहे थे। मालवा की धूप उन दिनों सुहावनी लगती थी। घरों के सामान बाहर रखे हुए थे और जन-जीवन में त्यौहार के स्वागत की पूर्व तैयारी हो रही थी।

रतलाम पर मुझे केसरपुरा के लिए गाड़ी बदलनी थी। ज्यों ही मैंने रतलाम की धरती छुई कि मैं पाँव से सिर तक सिहर गया। गला रुँध गया और सारा परिवार आँखों के सामने घूम गया। मैंने मन को मजबूत किया। मेरे जबड़े भिंचे और मैं अजमेर जाने वाली गाड़ी में बैठ गया। रात को कोई नौ बजे मै केसरपुरा उतरा और वहाँ से चुपचाप-चोरी, पैदल रास्ते-रास्ते, आधा घण्टे में ही नयागाँव के रामदेवजी के अपने पूर्व-परिचित चबूतरे पर आ गया। करीब साढ़े बाईस या तेईस माह बाद में वापस अपने गाँव आया था। चबूतरे पर रामदेवजी के यात्री पड़े थे और धूनी लगी हुई थी। जाते ही मैं भी अँधेरे में ही गीत गाने लग गया। रात भर वहाँ सोया।

'दो बरस की इस अल्हड़ और फक्कड़ाना जिन्दगी ने मुझे एकदम बदल दिया था। शरीर मेरा भर गया था और चेहरा मूँछ और दाढ़ी से भर-सा गया था। ढंग मेरा एकदम फकीराना हो

गया था और मैं पक्का साधु प्रतीत होता था। पहला सवेरा हुआ तो मैं कुछ सहमा पर मैंने अपनी दिनचर्या व्यवस्थित रूप से शुरु रखी। अनजाना बनकर मैं अपनी पूजा-अर्चा और धर्म-चर्चा में लगा रहा। दोपहर तक मेरे बारे में कोई चर्चा नहीं हुई। शाम को गाँव में बात उठी कि एक बहुत ही गुणी साधु रामदेवजी के चबूतरे पर आया है और शंकररावजी नाडकर्णी साहब के गोविन्दा जैसा लगता है। पटवारी का बेटा बाबा हो जायेगा, यह कौन सोच सकता था? मुझे भी यह भनक पड़ी। पर लोग मुझसे छिपाकर बात करते रहे। मेरी माँ की तलाश करवाई गई पर वह मजदूरी के लिए कहीं गई हुई थी और उस रात वह मेरा समाचार नहीं पा सकी।

'अन्ततः दूसरा सवेरा हुआ। मैं स्नान-ध्यान करके निबटा ही था कि एक बड़ी देहाती भीड़ के साथ माँ ने चबूतरे की तरफ कूच किया। मैंने पालथी मारकर आँखें मूँद लीं और समाधि का बहाना किया। माँ ने और गाँव़ के लोगों ने मुझे देखा और देखते ही वे ठिठककर खड़े रह गये। बातों के स्वर बुझ गए और स्वर, घुसुर-पुसुर में बदल गए। मैं आँखें मूँदे बैठा था पर एक-एक क्षण मुझे दीख रहा था। क्या हो रहा है, इससे मैं अछूता नहीं था। मुझे लगा कि माँ ठीक मेरे सामने खड़ी मुझे अपलक देख रही है। एक वाक्य माँ के मुँह से निकला -'बाबाजी! आप जैसा ही मेरा एक बेटा दो बरस से कहीं खो गया है। पता चला है कि आप बड़े सिद्ध स्वामी हैं। आप आँखें खोलो तो मेरा बेटा.....' मेरे मन की आप कल्पना कीजियेगा। माँ का वाक्य पूरा होना कठिन था। मेरी आँखें अविरल बह रही थीं और लगा कि यदि अब ज्यादा समय बीता तो मैं जी नहीं सकूँगा। मैंने बड़ी कठिनाई से आँखें खोलीं।

'आँखों का खुलना था कि माँ पछाड़ खाकर मेरी गोद में गिर पड़ी। चबूतरे पर जितने लोग थे सबकी आँखों में आँसू थे। कई की हिचकियाँ बँध गईं। मैं माँ से लिपट गया। शायद माँ ने मुझे अपने जीवन में सर्वाधिक बार उसी दिन चूमा होगा। मुझे कुछ याद नहीं पड़ता कि मैंने क्या कहा और फिर कौन क्या बोला। मेरे मन ने मुझे एक बार धिक्कारा - 'यदि में माँ के हाथों पिटता रहता तो मेरा क्या बिगड़ जाता?' माँ को दो बरस तक जो असह्य पीड़ा मैंने दी उसका प्रायश्चित मैं आज तक नहीं कर पाया। आज न मेरी माँ है, न मेरे पिता। बड़े भाई ने मेरी सारी जिन्दगी उसके बाद सँवारकर मुझे इन्सान बना दिया है। आज मैं बेहद सन्तुष्ट और सुखी हूँ। भगवान का दिया मेरे पास सब कुछ है।'

मैंने पूछा - 'दादा! यह तो बताओ माँ ने फिर पीटा या नहीं?'

दादा आँसू पोंछते हुए बोले, 'भैया, अब इस सवाल का क्या उत्तर दूँ? हाँ, इतना जरूर है कि उस साल हमारे घर दीवाली खूब ठाठदार मनी।'

परिशिष्ट - इस कथा-नायक के बारे में कुछ जान लीजिए

कथा का यह भाग यात्रा का ब्यौरा नहीं है। इस रस-भंग के लिए मुझे क्षमा कर दें। मुझे लगा कि आप इस रोमांचक यात्रा का समापन अंश पढ़ें उससे पहले 'दादा' श्री गोविन्दरावजी नाडकर्णी और उनके परिवार के बारे में कुछ जान लें।

दादा से और 'नाडकर्णी परिवार' से मेरा भी जीवन्त सम्पर्क रहा है। मेरी सक्रिय पत्रकारिता के महत्वपूर्ण बरस मन्दसौर में बीते। दादा तो मन्दसौर में बसे हुए थे ही। शुक्ला कॉलोनी में निवास था उनका। कभी वे रास्ते में मिल जाते तो यदा-कदा मैं उनके घर चला जाता। दादा सदैव ही मालवी में ही बात किया करते थे। बोली की मिठास तो अपनी जगह होती ही थी, उनकी आवाज मक्खन जैसी नरम और शहतूत जैसी मीठी थी। बात करते समय 'भैया' उनका सामान्य सम्बोधन हुआ करता था। वे जब 'भैया' बोलते तो लगता था गोद में उठाकर, दुलराकर बात कर रहे हैं।

दादा श्री गोविन्दरावजी नाडकर्णी और जीजी मथुराबाई

दादा की कुल छह सन्तानें थीं - पाँच बेटे और एक बेटी। इनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं - वसन्त नाडकर्णी (सन्तु), अनन्त नाडकर्णी (गोटू), मनीषा कोपरगाँवकर (बेबी), दामोदर नाडकर्णी (दामू), बलवन्त नाडकर्णी (बब्बू) और भास्कर नाडकर्णी (बालू)। विधि का विधान है कि अब केवल सन्तु भैया और दामू ही हमारे साथ हैं। सन्तु भैया और गोटू से मेरा जीवन्त सम्पर्क रहा। गोटू तो मेरा सहपाठी रहा। बहुत अच्छा खिलाड़ी था। 'शैतान' की सीमा तक

बहुत ही चंचल, शरारती और नटखट था वह। यार-दोस्तों की बैठकों को गुलजार कर देता था। सन्तु भैया और उनकी जीवनसंगिनी शोभा, शिक्षा विभाग में थे। एक काल-खण्ड में उनकी पदस्थापाना मेरे गाँव मनासा में रही थी। तब उनके घर खूब आना-जाना हुआ करता था।

सन्तु भैया और शोभा से मेरा रिश्ता बड़ा रोचक रहा। दादा के कारण वे मेरे 'सन्तु भैया' हैं। उनका विवाह रामपुरा के कर्णिक परिवार में हुआ है। रामपुरा मेरा ननिहाल है। सो, शोभा, मेरे मामा की बेटी, मेरी 'अक्का' (दीदी) हुई। इस 'मीठे मेल' के कारण सन्तु भैया के परिवार में मेरा अनूठा नामकरण हुआ।

सन्तू भैया श्री वसन्त नाडकर्णी का परिवार

सन्तु भैया जब मनासा में थे तब उनका बेटा बण्टी बहुत छोटा था। वह मुझे क्या कह कर बुलाए? मैंने ही सुझाव दिया - "मैं इसका काका भी हूँ और मामा भी। दोनों को मिला कर एक नया नाम बना लेते हैं - 'कामा'।" सो, जब-जब मैं सन्तु भैया के घर जाता, बण्टी मुझे 'कामा' ही कहता। अभी भी, इस यात्रा वृतान्त को ब्लॉग पर देने के लिए फोटू और जानकारियाँ देते समय बण्टी ने मुझे, दशकों बाद 'कामा' ही सम्बोधित किया। यतीन्द्र इस समय इक्विटास स्माल फाइनेन्स बैंक के रीजनल मैनेजर के पद पर, नागपुर में कार्यरत है। लेकिन कृपया ध्यान दें! बण्टी, आप सबके लिए नहीं, केवल मेरे लिए (और शायद, परिवार में भी) बण्टी है। आप सबके लिए वह यतीन्द्र वसन्त नाडकर्णी है।

प्रपौत्र लक्ष्य नाडकर्णी के साथ दादा श्री गोविन्दरावजी नाडकर्णी

अपनी अगली तीन पीढ़ियों के साथ दादा
बाँए से - दादा श्री गोविन्दरावजी नाडकर्णी, पौत्र यतीन्द्र नाडकर्णी,
यतीन्द्र की बाँहों में प्रपौत्र लक्ष्य नाडकर्णी और एकदम दाहिने पुत्र वसन्त नाडकर्णी

ईश्वर की असीम अनुकम्पा से दादा और जीजी ने अपनी चौथी पीढ़ी की किलकारियों का सुख भोगा। जीजी का नाम मथुराबाई था। दादा का निधन 2000 में मन्दसौर में और जीजी का निधन 2013 में नागपुर हुआ।

सन्तु भैया और शीला अक्का अपने बेटे यतीन्द्र के साथ नागपुर में रह रहे हैं। सन्तु भैया अपने जीवन के 75 वर्ष पूरे कर रहे हैं। इस प्रसंग पर यतीन्द्र ने इसी 31 जुलाई को बड़ा जलसा आयोजित किया था। सन्तु भैया ने मुझे भी बुलाया। लेकिन मैंने सधन्यवाद क्षमा-याचना कर ली। नाडकर्णी-परिवार सारी जानकारियाँ और फोटू यतीन्द्र ने ही उपलब्ध कराए।

स्व. अनन्त नाडकर्णी (गोटू) का परिवार

श्री दामोदर नाडकर्णी (दामू) का परिवार

मेरी हार्दिक इच्छा और कोशिश रही कि दादा की सारी सन्तानों के चित्र यहाँ होते। यतीन्द्र ने कुछ मोबाइल नम्बर उपलब्ध कराए थे। मैंने अपने तईं यथासम्भव कोशिशें की। जितना कुछ मिल पाया उसमें से अधिकाधिक अनुकूल चित्र यहाँ दे रहा हूँ। दादा की पोती, बलवन्त (बब्बू) की बिटिया, निकिता नाडकर्णी ने कुछ चित्र उपलब्ध कराए।

दादा के चौथे बेटे, बलवन्त (बब्बू) के वाक्दान (सगाई) समारोह के इस चित्र में नाडकर्णी परिवार के अधिकांश सदस्य दिखाई दे रहे हैं। चूँकि प्रसंग वाक्दान का था तो इसमें बलवन्त की सुसराल पक्ष, जोशी परिवार के सदस्य और उनके कुछ पारिवारिक मित्र भी इस चित्र में दिखाई दे रहे हैं। मैं सबका परिचय सविस्तार दे रहा हूँ।

फर्श पर, बाँये से - कुसुम जोशी, मंजू तिवारी, मधुबाला बलवन्त नाडकर्णी, दादा की पुत्री मनीषा कोपरगाँवकर, शोभा वसन्त नाडकर्णी, सुमन जोशी

खड़ी हुई बच्चियाँ, बाँये से - वसन्त (सन्तु) की बेटी भावना करोड़ी, मनीषा की बेटी जयश्री (स्वाति) क्षीरे, मनीषा की ही बेटी नीतू मेहरूनकर। जीजी की गोद में मनीषा की तीसरी बेटी तृप्ति (हेमू) जोशी।

कुर्सी पर बैठे हुए, बाँये से - जीजी मुथुराबाई नाडकर्णी, दादा गोविन्दरावजी नाडकर्णी, दादा के बड़े भाई गोपालरावजी नाडकर्णी, गोपालरावजी की पत्नी द्वारिकाबाई नाडकर्णी और पास में खड़ा हुआ, यतीन्द्र वसन्त नाडकर्णी (बण्टी)।

पीछे खड़े हुए - अपने बेटे कान्तेश जोशी को उठाए हुए, बलवन्त के साले बाबूराव जोशी दादा का सबसे छोटा बेटा भास्कर (बालू) नाडकर्णी, दादा का चौथा बेटा (जिसकी सगाई का यह चित्र है) बलवन्त (बब्बू) नाडकर्णी, दादा के दामाद मनोहर कोपरगाँवकर, दादा का सबसे बड़ा बेटा वसन्त (सन्तु) नाडकर्णी, दादा का दूसरा बेटा अनन्त (गोटू) नाडकर्णी और जोशी परिवार के मित्र मनोहर लाल शर्मा।

ऐसे नजर आते थे दादा अपने चौथे काल में

हाँ! यतीन्द्र से सम्पर्क कराया, **रामपुरावाले भाई मुस्तफा मादेह** ने। उन्होंने ही यतीन्द्र का नम्बर दिया। भाई मुस्तफा यदि यह कड़ी नहीं जोड़ते तो पता नहीं ये सब बातें और फोटू आप तक कब पहुँचते! उन्हें अन्तर्मन से बहुत-बहुत धन्यवाद और आभार। 'सोशल मीडिया' का होना ऐसे समय में बड़ा सुखद लगा।

इस रोमांचक और लगभग अविश्वसनीय यात्रा-कथा के नायक के बारे में न्यूनतम जानकारियाँ मुझे जरूरी लगीं। लेकिन किस सन्दर्भ-प्रसंग से देता? इसलिए, सारी सूचनाएँ और चित्र देने के लिए मुझे इसके सिवाय और कोई रास्ता नहीं सूझा। इसी सद्भावना और सदाशयता के अधीन मैंने आपका यह रस-भंग किया है। मैं एक बार फिर आप सबसे क्षमा चाहता हूँ।

यात्रा-वृतान्त की अन्तिम कड़ी पढ़ते समय कृपया भूल न जाएँ कि यह वृतान्त दादा श्री बालकवि बैरागी ने लिखा है और इस वृतान्त का 'मैं' दादा बालकविजी ही हैं।

किताब के ब्यौरे -

कच्छ का पदयात्री: यात्रा विवरण

बालकवि बैरागी

प्रथम संस्करण 1980

मूल्य - 10.00 रुपये

प्रकाशक - अंकुर प्रकाशन, 1/3017 रामनगर,

मंडोली रोड, शाहदरा, दिल्ली-110032

मुद्रक - सीमा प्रिंटिंग प्रेस, शाहदरा? दिल्ली-32

कॉपीराइट - बालकवि बैरागी

यह किताब, दादा श्री बालकवि बैरागी की पोती रौनक बैरागी याने हम सबकी रूना ने उपलब्ध कराई है। रूना, राजस्थान प्रशासकीय सेवा की सदस्य है और इस किताब के यहाँ प्रकाशित होने की तारीख को, उदयपुर में, सहायक आबकारी आयुक्त के पद पर कार्यरत है।

इस ईबुक की सामग्री सार्वजनिक पठन-पाठन के लिए उपलब्ध, श्री विष्णु बैरागी के ब्लॉग एकोहम (http://akoham.blogspot.com/) से ली गई है.